वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २८४

वर्ष २४ : : : : अङ्क ८

श्रावण संवत् २०००

अगस्त १९४३

तैंतीस देव।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
(अथर्व० १०।७।१३)

सब तैंतीस देव जिसके अंग में समाये हैं, वही सब का आधारस्तंभ है, उसी का वर्णन करना योग्य है, वही अनेकों को आधार देनेवाला एक देव है।

वेदके अध्ययन की योजना

अनेक पाठकों से पत्र आते हैं, जिन में वे लिखते हैं कि, एक ऐसी आयोजना की जाय कि, जिस के अन्दर शरीक होने से कुछ समय के पश्चात् पाठकों की गति वेद में अधिकाधिक होती रहेगी और इस तरह ५।६ वर्षों के प्रयत्न से वे वेदविचारक हो सकेंगे।

प्रथम वर्ष की पढाई।

पाठकों की यह इच्छा अच्छी है और हमने ऐसी योजना की भी है। पहिला ३०० मन्त्रों का अध्ययनक्रम है, जो १ वर्ष में पूर्ण करना है। एक वर्ष में ३०० मन्त्र कोई अधिक नहीं हैं। प्रतिदिन एक मन्त्र भी नहीं है। इन ३०० मंत्रों के तीन पुस्तक छप चुके है। तीनों भागों में मिलकर ३०० मंत्रों का पदपाठ, अन्वय, अर्थ, भावार्थ, टिप्पणी और स्पष्टीकरण है, जिसे पढने से पाठकों की गति इन ३०० मंत्रों की पाठविधि में हो सकती है और जो प्रतिदिन आधा घण्टा इस कार्य के लिये देंगे, वे एक वर्ष में निःसन्देह इन मंत्रों के अर्थज्ञान में प्रवीण होंगे।

ये तीन पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं और सैकडो पाठक इन का अध्ययन कर रहे हैं और कई पाठक इस की प्रथम परीक्षा के लिये भी बैठनेवाले हैं। जो उत्तीर्ण होंगे, उनको 'वेदपरिचित' उपाधि मिलेगी।

द्वितीय वर्ष की पढाई।

द्वितीय वर्ष की पढाई ५०० मंत्रों की है। यह पुस्तक भी छप चुकी है। इसमें ५०० मन्त्र हैं, पदपाठ, अन्वय, अर्थ, भावार्थ, टिप्पणी और स्पष्टीकरण तथा विवरण सब छप चुका है।

इस 'वेद-प्रवेश' की परीक्षा ५०० मन्त्रों में होगी। यह द्वितीय परीक्षा है। इस की पाठविधि छपकर तैयार हो चुकी है। अगले महिने में पाठकों को प्राप्त हो सकेगी, क्योंकि इस की भूमिका छप रही है।

इन दो परीक्षाओं में जो उत्तीर्ण होंगे, वे वेद में प्रविष्ट होंगे और वे स्वयं वेदाध्ययन करने में समर्थ होंगे।

आगे की पढाई।

आगे की पाठ्य ग्रन्थमाला भी छप रही है, जो यथासमय पाठकों को प्राप्त हो जायगी। शर्त इतनीही है कि, पाठक इस कार्य के लिये प्रतिदिन नियत समय दें। जो पाठक वेद के अध्ययन के लिये नियत समय देंगे, उन के लिये आवश्यक सब साधन उपस्थित किये जा सकते हैं। परन्तु जो केवल पुस्तकें तो मोल लेंगे, परन्तु प्रतिदिन अध्ययन नहीं करेंगे, उन के लिये कोई उपाय नहीं है। यदि स्वयं वेदमें प्रवेश करना है, तब तो उस पवित्र कार्य के लिये प्रतिदिन नियत समय देना आवश्यक है। समय दिये विना यह कार्य हो नहीं सकता।

स्वाध्याय के ग्रंथ।

स्वाध्यायमण्डलद्वारा वेद की विद्या के विषय में इतने ग्रंथ इस समयतक प्रकाशित किये गये हैं कि, जिनमें करीब ३००० मन्त्र अर्थ और विवरण तथा रहस्य के समेत प्रकाशित हो चुके हैं। इन के अध्ययन से पाठक अच्छी तरह वेदके साथ परिचित हो सकते हैं और वेदमन्त्रोंका रहस्य भी जान सकते हैं।

अब दैवतसंहिता नित्यपाठ के लिये प्रकाशित हो रही है। जो वेदमंत्रों का नित्य पाठ करना चाहते हैं, उन के लिये यह दैवतसंहिता एक अपूर्व ग्रंथ है। अब क्रमशः इन में से एक एक देवताके मंत्रों का अर्थ भी प्रकाशित हो रहा है। इस से वेदपरिचय करनेके लिये बडी ही सुगमता हो रही है।

पाठक इन ग्रंथों को देखें और वेदाध्ययन में अपने समय के अनुसार प्रगति करें। करनेसे ही अध्ययन होगा। न करने से कैसे बनेगा?

संपादक.

सब का आधार-स्तम्भ ।

(लेख ११ वाँ ×)

सब विश्व का आधारस्तम्भ एक ही प्रभु है। 'सर्वाधार' अथवा 'आधारस्तम्भ' उसको इसीलिये कहते हैं। इस सब के आधारस्तम्भ का वर्णन अथर्ववेदके स्कम्भ-सूक्त में किया है। यह **स्कम्भसूक्त** अथर्ववेद शौनकीय संहिता के काण्ड १०, सूक्त ७ में ४४ मंत्रों का सूक्त है। यही सूक्त अथर्ववेद की पिप्पलादसंहिता में काण्ड १७, सूक्त ७-११ तक सब मिल ५ सूक्तों में विभक्त हुआ है, इन सूक्तों में मिलकर मंत्र ४४ ही हैं, परन्तु अन्तिम दो मंत्र विभिन्न हैं। यहां का प्रत्येक सूक्त १० मंत्रों का है और अन्तिम सूक्त में ४ मन्त्र है। कई मंत्रों में पाठभेद भी हैं, जो आगे दिये हैं।

इस स्कम्भसूक्त में परमात्मा का ही सब वर्णन है। यह वर्णन सदैक्यवाद की सिद्धि कर रहा है, जैसा पुरुषसूक्त और रुद्रसूक्तोंने किया है। वेद के ईश्वरविषयक वर्णन की संगति सदैक्यवाद से लगती है, यह बात जैसी इस समय तक के लेखों में सिद्ध हो गयी है, वैसी ही इस स्कम्भसूक्त से भी हो रही है। पाठक इस बात को इस स्कम्भ सूक्त में देखें और सत्यस्वरूप परमात्मा का दर्शन करें और उस की सेवा स्वकर्मद्वारा करने के लिये अपनी तैयारी करें। इस की सेवा से ही मनुष्य की कृतकृत्यता होनेवाली है। अब इस के स्वरूप का वर्णन देखिये—

इस स्वरूप का वर्णन करने के निमित्त से कई प्रश्न सूक्त के प्रारम्भ में पूछे गये हैं। ये प्रश्न 'सूचक प्रश्न' हैं। अर्थात् इन प्रश्नों को देखकर इसी तरह अधिक प्रश्न भी पाठक स्वयं पूछ सकते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर वेदने दिया है, पर पाठक जो अधिक प्रश्न पूछेंगे, उन का उत्तर वेद स्वयं नहीं देगा, परन्तु वेद के इन उत्तरों के अनुसन्धान से पाठकों को ही अपने अन्य प्रश्नों का उत्तर जानना चाहिये। इस तरह वेद के अनुसार प्रश्न और उन के उत्तर पाठक देने लगें, तो वेद का तत्त्वज्ञान पाठकों के ध्यान में आ गया, ऐसा पाठक मान सकते हैं। इसलिये सब से प्रथम यहां ये प्रश्न पाठक देखें। इन प्रश्नों में ईश्वर के किस अंग में क्या है, ऐसा पूछा है। अर्थात् उस वस्तु के दर्शन से, वह वस्तु परमेश्वर का कौनसा अंग है, इस का ज्ञान हो सकता है। प्रश्नों से और उन के उत्तरों से यह हम जान सकते हैं। अतः ये प्रश्न प्रथम देखिये—

इसके किस अङ्ग में क्या रहता है ?

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधितिष्ठति ? कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम् ?। क्व व्रतं ? क्व श्रद्धास्य तिष्ठति ? कस्मिन्नङ्गे सत्यं अस्य प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

कस्मादङ्गाद्दीप्यते अग्निरस्य ? कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा ? कस्मादङ्गाद्वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा ? महः स्कम्भस्य मिमानो अंगम् ॥ २ ॥

कस्मिन्नंगे तिष्ठति भूमिरस्य ? कस्मिन्नंगे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्। कस्मिन्नंगे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नंगे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥ ३ ॥

क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः ? क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा ? यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ४ ॥

यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ६ ॥

पिप्पलादपाठ—

क्व ब्रह्म ? क्व तिष्ठन्त्यापः ? कस्मिन्नंगे दिशोऽस्य प्रतिष्ठिता ? ॥ २ ॥ (अ पि १७।७।२)

यह सर्वाधार परमात्मा है, इस के किस अङ्गमें कौनसी देवता तथा कौनसा पदार्थ रहता है, ये प्रश्न इन मंत्रों में हैं। इन प्रश्नों का अर्थ देखिये—

× इस लेखमाला का १० वाँ लेख 'वैदिक धर्म' क्रमाङ्क २८३ में पृष्ठ २०५ पर 'वीरभद्र का राज्यशासन' नामसे छपा है।

(अस्य कस्मिन् अंगे तपः अधितिष्ठति ?) इस परमेश्वर के किस अंग में तप रहता है ? किस अंग में (ऋतं अध्याहितं ?) ऋत रहा है ? व्रत, श्रद्धा और सत्य किस अंग में रहते हैं ? (अस्य कस्मात् अंगात् अग्निः दीप्यते ?) इस प्रभु के किस अंगसे अग्नि प्रदीप्त होता है ? इस के किस अवयव से (मातरिश्वा पवते) वायु का संचार होता है ? इस के किस अंग से (स्कंभस्य महः अंगं मिमानः) सर्वाधार प्रभु के बड़े अंग का माप करता हुआ चन्द्रमा (अधि विमिमीते) अपने काल का मापन करता है ? इस के किस अवयव में भूमि रहती है ? किस अवयवमें अन्तरिक्ष रहता है ? किस अवयवमें द्युलोक रखा है ? और किस अवयव में द्युलोक के ऊपर का अवकाश रहा है ? (क्व प्रेप्सन् अग्निः ऊर्ध्वः दीप्यते) कहां पहुंचने की इच्छा करता हुआ यह अग्नि ऊर्ध्व गति से जलता रहता है ? कहां पहुंचने की इच्छासे (मातरिश्वा) वायु बहता रहता है ? जहां जाने की इच्छा से (आवृतः अभियन्ति) सब प्रदक्षिणायें की जाती हैं (तं स्कंभं) वही सर्वाधार है, कह दो कि, वह कौन है ? (आपः) जलप्रवाह (यत्र प्रेप्सन्तीः) जहां पहुंचने की इच्छा से (अभियन्ति) जा रहे हैं, वही सब का आधार प्रभु है, कह दो, कि वह कौन है ?

[पिप्पलादपाठ (क्व ब्रह्म) ज्ञान कहां रहता है ? (आपः क्व तिष्ठन्ति) जलप्रवाह कहां रहते हैं ? इस के किस अंग में (दिशः प्रतिष्ठिताः) दिशाएं रहती हैं ?

इन मन्त्रों में इतने प्रश्न पूछे हैं और सर्वाधार प्रभु के ज्ञान के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न की है।

इन प्रश्नों का हेतु यहां देखना चाहिये। इन प्रश्नों का मुख्य हेतु यह है कि, इनके उत्तरोंसे परमेश्वरके अङ्गों और अवयवों का पता उपासक को लगे, उपासक अपने उपास्य प्रभु को जाने और जानकर उस की उपासना, सेवा या भक्ति करे और कृतार्थ होवे।

प्रथम मन्त्र में ' तप, ऋत, व्रत, श्रद्धा और सत्य ' का उल्लेख है। ये व्यक्ति के अन्दर रहनेवाले गुण हैं। व्यक्ति के अन्दर के ये गुण किस के आधार से रहते हैं, अर्थात् किस के कारण ये गुण प्रत्येक व्यक्ति में सुरक्षित हैं, यह प्रश्न यहां पूछा है ?

आगे के पांच मंत्रों में विश्वव्यापक देवताएं कहां रहती हैं, अर्थात् किस के आधार से रहती हैं, इस विषय के प्रश्न हैं। ये प्रश्न भी अब देखिये- (अस्य कस्मात् अंगात् अग्निः दीप्यते ?) इस परमेश्वर के किस अङ्ग से अग्नि प्रदीप्त होता है ? इस के किस अङ्ग से वायु (पवते) पवित्रता करता हुआ बहता है ! इस के किस अङ्ग से चन्द्रमा (स्कम्भस्य महः अंगं मिमानः) आधारस्तम्भ के बड़े अङ्ग को मापता हुआ। (अधि विमिमीते) विशेष प्रकार से काल को नापता है ?

(अस्य कस्मिन् अंगे भूमिः तिष्ठति) इस परमेश्वर के किस अंग में भूमि ठहरती है ? इस के किस अंग में अन्तरिक्ष ठहरा है ? इस के किस अंगमें (द्यौः आहिता) द्युलोक स्थिर किया है और (उत्तरं दिवः) ऊपर का द्युलोक किस अंग में रहा है ? (क्वः प्रेप्सन्) कहां पहुंचने की इच्छा करता हुआ (अग्निः ऊर्ध्वः दीप्यते) अग्नि ऊपर की ओर गति करता हुआ जलता रहता है ? कहां पहुंचने की इच्छा करता हुआ वायु पवित्रता करता हुआ बहता रहता है ? (यत्र प्रेप्सन्तीः) जहां जानेकी इच्छा करती हुई (आवृतः अभियन्ति) फैलनेवाली जलधाराएं चलती हैं, (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस आधारस्तम्भ का वर्णन कर, (सः कतमः स्वित् एव) वह भला कौनसा है ?

इस मन्त्र में ' आवृतः ' पद है, इसके अर्थ के विषय में अनेकों के लिये सन्देह है, पर आगे के छठे मन्त्र के उत्तरार्ध को देखने से इस सन्देह की निवृत्ति होती है। (यत्र प्रेप्सन्तीः आपः अभियन्ति) जहां पहुंचने की इच्छा से जलप्रवाह चल रहे हैं, उस आधारस्तंभ का वर्णन कर, वह भला कौनसा है वह भी कह।

पिप्पलाद-संहिता के इस सूक्त के द्वितीय मन्त्र में (ब्रह्म) ज्ञान कहां रहता है ? (आपः) जल कहां रहता है ? इस आधारस्तंभ के किस अंग में सब दिशाएं रहती हैं ? ये प्रश्न हैं। इन में पहिला प्रश्न वैयक्तिक है और आगे के दोनों प्रश्न विश्व की देवताओं के संबंध के हैं ?

यहां जो प्रश्न पूछे हैं, उन्हें यहां हम लिख देते हैं।

वैयक्तिक प्रश्न।

१. तप इस के किस अङ्गमें रहता है? ऋत, व्रत, श्रद्धा और सत्य इस के किस किस अङ्ग में रहते हैं? इस के किस अङ्ग में ज्ञान रहता है?

देवताविषयक प्रश्न।

२. इस के किस अंग से अग्नि जलता है? किस अङ्ग से वायु बहता है? इस आधारस्तंभके विशाल अंगको नापता हुआ चन्द्रमा इस के किस अङ्ग में रहकर अपना मार्ग मापता है?

३. इस के किस अङ्ग में भूमि रहती है? अन्तरिक्ष, द्युलोक और ऊपर का स्वर्ग इस के किस अङ्ग में रहते हैं?

४. किस इच्छा से अग्नि का ज्वलन ऊर्ध्वभाग में होता है? किस इच्छा से वायु बहता है और जलप्रवाह नीच गति से चलते रहते हैं?

५. इस के किस अङ्ग में जल रहता है और दिशायें भी इस में कहां रहती हैं।

जिस में ये सब देवताएं रहती हैं, उस आधारस्तंभ का वर्णन कर, अनेक देवताओं में वह कौनसा देव है, यह भी कह और निश्चयपूर्वक कह।

यहां जिन लोकों और जिन देवों के विषय में प्रश्न पूछा है, उन की तालिका यह है-

लोक	देव	कर्म	
१. भूमि	अग्नि	ऊर्ध्वज्वलन	प्रकाश
२. अन्तरिक्ष	वायु	पवन (गमन)	पवित्रीकरण
	चन्द्रमाः	अंगं निमानः	कालमापन
	आवृत आपः	निम्नगमन	(शांतिकरण)
	दिशः		
३. दिवः			
उत्तरं दिवः			

तीनों लोकों में स्थित इन देवताओं के विषयमें इतने प्रश्न पूछे हैं। इसी तरह पाठक अन्यान्य देवताओंके कर्मों का निर्देश करके अधिक प्रश्न पूछ सकते हैं। जैसा (१) सूर्य इस आधारस्तंभ के किस अंग में रहता है? (२) औषधियां इस के किस अंग में रहती हैं? नदियां इस के किस अंग में रहती हैं? समुद्र इस आधारस्तंभ के किस अङ्ग में रहता है? इसी तरह कई प्रश्न पूछे जा सकते हैं। विचक्षण पाठकों को उचित है कि, वे ऐसे प्रश्न पूछें, क्योंकि कई ऐसे प्रश्नों के उत्तर आगे दिये हैं। आगे उत्तरों का विचार करने के समय पाठक जान सकेंगे कि, जिनके यहां प्रश्न नहीं पूछे हैं, उन के भी आगे उत्तर दिये गये हैं। इसलिये इस पद्धति से अनेक प्रश्न पूछे जा सकते हैं। तेंतीस देवताओं के संबंध में पाठक इस तरह के प्रश्न पूछ सकते हैं।

वैयक्तिक गुण-धर्म शक्तियों के विषय में भी इसी तरह पाठक प्रश्न पूछ सकते हैं। प्रथम मंत्र में 'इस के किस किस अंग में तप, ऋत, सत्य, व्रत, और श्रद्धा रहते हैं? और (पिप्पलाद संहिताके अनुसार) ज्ञान भी इस आधारस्तम्भ के किस अंग में रहता है? इन प्रश्नों के अनुसंधान से पाठक अन्यान्य प्रश्न भी यहां पूछ सकते हैं। जैसे इस के किस अंग में धृतिशक्ति रहती है? स्मरण कहां रहता है? मनन कहां से किया जाता है? इत्यादि अनेक प्रश्न वैयक्तिक शक्तियों के सम्बन्ध में पूछे जा सकते हैं। इस तरह के अनेक प्रश्न अथर्ववेद (काण्ड १०, सूक्त २, मन्त्र १-२४) में पूछे गये हैं। वहां पाठक वेदकी प्रश्न की रीति देख सकते हैं और वैयक्तिक शक्तियों के सम्बन्ध में अनेकानेक प्रश्न पूछ सकते हैं।

इन प्रश्नों का फल।

यहां एक व्यक्ति के विषय में प्रश्न हैं और विश्वव्यापक देवताओं के विषय में भी प्रश्न हैं। पर इन प्रश्नों में एक बात स्पष्ट हो रही है, वह यह कि, जैसे व्यक्तिगत ज्ञान, तप, श्रद्धा, सत्य आदि गुण वैसे ही जल, अग्नि, वायु, चन्द्रमा आदि देव, तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये लोक किसी एक देव के आधार से टिक रहते हैं। किस के किस अंग में ये रहते हैं? इस प्रश्न से और 'स्कम्भ' पद से निश्चय इस बात का होता है कि, अनेकानेक देवताओं में एक (स्कम्भ) स्तम्भ अथवा आधारस्तम्भ करके एक ही देव है, उस सर्वाधार में अथवा सब के आश्रयदाता के एकएक अंग में ये लोक और ये देव रहते हैं।

व्यक्ति के गुण, तीनों लोक और सब देवताएं इन सब का आधार एक ही है और इसी का नाम इस सूक्त में

' स्कम्भ ' कहा है, क्योंकि यह एक प्रभु ही सब का आधार है। प्रश्नों के मनन से भी ' एक आधारस्तंभ ' की कल्पना स्पष्ट हो रही है। सब का ' एक ही आधार ' है, यह निश्चित है। इस एक आधार के किस अवयव में कौनसा देव है, यह प्रश्न है।

इस सूक्त में ' अस्य, स्कम्भः, कतमः, सः ' इत्यादि पदों के एक वचन के प्रयोग से भी वह सर्वाधार परमेश्वर एक ही है, यह बात सिद्ध होती है। प्रश्नों के मनन से इतना ज्ञान मिलने के पश्चात् इन प्रश्नों के उत्तरों का हम विचार करते हैं ?

ईश्वर का विश्वरूपदर्शन।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः,
स्कम्भं तं ब्रूहि, कतमः स्विदेव सः ? ॥१२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।
स्कम्भं तं ब्रूहि, कतमः स्विदेव सः ? ॥१३॥
यत्राऽमृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः,
स्कम्भं तं ब्रूहि, कतमः स्विदेव सः ? ॥१५॥
यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः १६

पिप्पलाद पाठ—

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषश्च समाहिताः।
(अ. पिप्प. १७।८।७)

' जिस में भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक स्थिर हुए हैं, जिस में अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, वायु सुस्थिरता से समर्पित होकर रहे हैं। (यस्य अङ्गे) जिस के शरीर में (सर्वे त्रयः त्रिंशत् देवाः) सब तैंतीस देव (समाहिताः) समा गये हैं, अन्तर्भूत हुए हैं। (यस्य नाड्यः) जिस की नाडियां अर्थात् नदियां, जो समुद्ररूप होती हैं. (पुरुषे अधि समाहिताः) इस पुरुष में समा गयीं हैं, अन्तर्भूत हुई हैं। चारों दिशाएं और उपदिशाएं जिसमें ठहरीं हैं। अमृत और मृत्यु अर्थात् जन्म और मृत्यु जिस पुरुष में समा गये हैं, वही सब का आधारस्तम्भ है। सब अन्य देवों में वही एक देव ऐसा है कि, जो सब का आधार-स्तम्भ है। '

इन मंत्रों में कहा है कि, (१) भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीन लोक, (२) समुद्र, नदियां अर्थात् जल, अग्नि, वायु, चन्द्रमा और सूर्य, और दिशाएं, (३) तैंतीस देवताएं, (४) अमरत्व और मृत्यु (जन्म और मृत्यु) ये सब जिस में समाये हैं, जिस में अन्तर्भूत हुए हैं, वह प्रभु सब का आधार है।

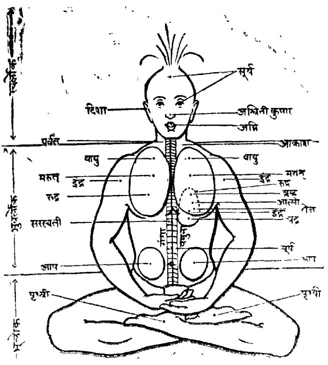
यहां ' अध्याहिताः, आर्पिताः, समाहिताः, ' ये पद विशेष मनन करनेयोग्य हैं। ' अन्तर्भूत होना, समा जाना, समाना, अंग बनकर रहना ' यह भाव इन पदों का यहां है। यहां ' अमृत और मृत्यु ' ये इस पुरुष में रहते हैं, ऐसा कहा है। गीता में भी ' अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहं अर्जुन। (गी. ९।१९) ' मैं ही अमृत और मृत्यु, सत् और असत् हूं, ' ऐसा ही वेद के ही शब्दों से कहा है।

इसी सूक्त के इस आशय के और मंत्र देखिये—

यस्य शिरो वैश्वानरः चक्षुः अंगिरसोऽभवन्।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः
स्विदेव सः ॥१८॥
यस्य ब्रह्म मुखं आहुः, जिह्वां मधुकशां उत।
विराजं ऊधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः
स्विदेव सः ॥१९॥
यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः,
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥२२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥२७
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥२३॥

पिप्पलादपाठ—

अंगानि यस्य ऋतवः। (अ. पि. १७।८।९)
यो वै तद् ब्रह्मणो वेद तं वै ब्रह्मविदो विदुः॥
(अ. पि. १७-९-५)



' जिस सब के आधार का सिर वैश्वानर अग्नि है, आंख अंगिरस बने हैं, (यस्य अंगानि यातवः) जिस के अङ्ग सब प्राणी हैं, जिस का मुख (ब्रह्म) ब्राह्मण है, अथवा ज्ञान जिस का मुख है, जिसकी जिह्वा (मधुकशां) मीठा चाबूक है, (विराजं ऊधः) विराट् गौ जिस का लेवा अर्थात् दुग्धाशय है । जहां आदित्य, रुद्र और वसु समाये हैं। भूत, भविष्य में तथा वर्तमान में विद्यमान सब लोग जिस में समाये हैं, (त्रयः त्रिंशद् देवाः) तैंतीस देव (यस्य अंगे) जिस के अंग में (गात्रा विभेजिरे) अवयव बनकर रहे हैं। इन तैंतीस देवों को अकेले ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं । तैंतीस देव जिस के निधिकी रक्षा करते हैं, उस निधिको आज कौन भला जानता है ? वह सर्वाधार है, वही आधारस्तम्भ है, वही सब अन्य देवों में मुख्य आधार है । '

(पिप्पलाद के पाठ के अनुसार) ' ऋतु जिस के अंग हैं । ' ' ब्रह्मज्ञानी उसको जानते हैं । ब्रह्मज्ञानी ही इस का ज्ञान जानता है । '

यहां भी पूर्ववत् 'समाहिताः, प्रतिष्ठिताः' ये पद समा जाने के अर्थ में आ गये हैं । १८ वें मन्त्र में ' अभवन् ' पद बडे महत्त्व का है, ' बन जाने ' का भाव इस में स्पष्ट है । ' वैश्वानर, अंगिरस ' और सब (यातवः) चलनेफिरनेवाले प्राणी उस प्रभु के अवयव (अभवन्) बने हैं, तैंतीस देव इस के शरीर के गात्रों में (विभेजिरे) विभक्त होकर रहे हैं । इस से स्पष्ट हो जाता है कि, इस प्रभु के शरीर के ये देव अवयव बनकर रहे हैं । अब और थोडे से मंत्र देखिये-

यस्य भूमिः प्रमा: अन्तरिक्षं उतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ३२
यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्नि यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३३
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः३४

' भूमि जिस के पांव हैं, अन्तरिक्ष जिस का पेट है, द्युलोक जिस का मस्तक है; सूर्य जिसकी आंख है, चन्द्रमा भी पुनः पुनः नया होता हुआ जिसकी आंख है, अग्नि जिसका मुख है, वायु जिस के प्राण और अपान हैं, अंगिरस(अग्नि) जिस के आंख हुए हैं, जिस के ज्ञानसाधन दिशाएं हैं, उस श्रेष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है । '

इन मंत्रों में भी पूर्व के समान ही वर्णन है। भूमि अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीन लोक क्रमशः इस के शरीर के पांव, पेट और मस्तक हैं । सूर्यचन्द्र ये जिस के आंख हैं और अग्नि जिस का मुख है, वायु प्राण है, प्रकाशक अग्नि आंख है और दिशाएं कान हैं, वह श्रेष्ठ ब्रह्म है ।

इन सब मंत्रों का आशय यदि तालिकारूप में बताना हो, तो वह तालिका इस तरह बनेगी–

अवयव	लोक
सिर, मस्तक	द्यु
पेट	अन्तरिक्ष
पांव	पृथ्वी
पुरुष के इंद्रिय	देवता
सिर, मस्तक	वैश्वानर,
चक्षु	अंगिरस, सूर्य, चन्द्रमा,
मुख	अग्नि
प्राणापान	वायु
पेट नाडियाँ	समुद्र, नदियाँ
कान (ज्ञानसाधन)	दिशाएं
अंग	सब प्राणी (चलनेवाले)
	आदित्याः
प्राणाः	रुद्राः
	वसवः

ब्रह्म का शरीर	तैंतीस देवता
मुख	ब्राह्मण
कशा (चाबूक)	क्षत्रिय
दुग्धाशय (लेवा)	गौ (वैश्य)

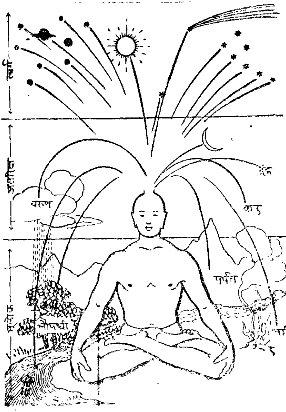
इस तरह तीनों लोक भूमि-अन्तरिक्ष-द्यु ये इस परमात्मा के देह में समाये हैं । ये तीन लोक मिलकर ही सब विश्व होता है । सब विश्व इस त्रिलोकी में समा जाता है । त्रिलोकी से बाहर और कुछ भी नहीं है । अर्थात् यह सब विश्व, किंवा यह सब त्रिलोकी मिलकर परमात्मा का अखण्ड शरीर है । यहां ' स्कंभ, आधारस्तंभ, पुरुष, ज्येष्ठब्रह्म, परब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, प्रभु, परमेश्वर ' ये सब पद एक ही अर्थके हैं । ' सत् ' किंवा ' एक सत् ' भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

इस परमेश्वर का देह है और इस देह में द्युलोक सिर है, अन्तरिक्षलोक पेट है और भूमि पांव हैं । अर्थात् अन्यान्य देवताएँ इस के बीच के अङ्ग, अवयव अथवा इंद्रिय हैं ।

इन तीनों लोकों में ३३ देवतायें हैं, प्रत्येक लोक में ११।११ देवताएं हैं । जब त्रिलोकी इस का– इस प्रभुका– शरीर है– तब ३३ देवताएं उस के शरीर अवयव हैं, इस विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता । इस सूक्त का यही प्रतिपाद्य विषय है । पुरुषसूक्त में जो २।३ मन्त्रों से प्रतिपादन किया था, वही ज्ञान इस सूक्त में इतने मन्त्रों से दिया है । पुरुषसूक्त में वर्णन संक्षेप से है और यहां विस्तार से है, पर वर्णन वही है । यहां तो वही बात दो दो बार, तीन तीन बार दुहरायी है । दुहराना समझाने के लिये होता है । जो बात अत्यंत महत्व की होती है, वही अनेक बार दुहराकर समझायी जाती है । इस दृष्टि से यहां की बातें कौनसी दुहरायी हैं, यह देखिये–

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥१३॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ॥ २७ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षंति सर्वदा ॥ २३ ॥

इससे एक ही बात किस तरह दुहरायी है इसका ज्ञान हो सकता है । अब और देखिये, प्रश्न और उत्तर कैसे हैं–



तीन लोक।

प्रश्न- अस्य कस्मात् अंगात् अग्निः दीप्यते ? ॥१॥
अग्निः क्व प्रेप्सन् ऊर्ध्वः दीप्यते ? ॥ ४ ॥
उत्तर- यः अग्निं आस्यं चक्रे ॥ ३३ ॥
प्रश्न- कस्मात् अंगात् पवते मातरिश्वा ? ॥ २ ॥
क्व प्रेप्सन् मातरिश्वा पवते ? ॥ ४ ॥
उत्तर- यत्र वातः अर्पितः तिष्ठति ॥ १२ ॥
यस्य प्राणापानौ वातः ॥ ३४ ॥
प्रश्न- अस्य कस्मिन् अंगे भूमिः तिष्ठति ?
अन्तरिक्षं व तिष्ठति ? कस्मिन् अंगे द्यौः
आहिता ? ॥ ३ ॥

उत्तर- भूमिः यस्य प्रमा (पादः),
यस्य उदरं अन्तरिक्षं, यः दिवं
मूर्धानं चक्रे, (तदेव ज्येष्ठं ब्रह्म) ॥३२

इस तरह पाठक देखें कि प्रश्न और उत्तर बडे मनोरंजक हैं और कई तो दुहराये गये भी हैं। पाठक इन का विचार अधिक कर सकते हैं। अब यहां एक विशेष बात का विचार करना है। वह क्रियापदका विचार है। संदेहवाद का विचार करने के समय यह विचार प्रधान स्थान रखता है। देखिये-

क्रियापद-विचार।

अधितिष्ठति (१)
अध्याहितं (१); अध्याहिता (१२)
तिष्ठति, (१;३) तिष्ठन्ति (१६)
प्रतिष्ठितं (१); प्रतिष्ठिताः (२२)
अर्पिताः (१२)
समाहिताः (१३; १५; २२)
चक्रे (३२; ३३; ३४)
विभेजिरे (२७)
अभवन् (१८; ३४)
आहुः (१९)

' अधितिष्ठति ' का अर्थ ' अधिष्ठाता होता है। ' अधिष्ठाता होना दूसरेपर हि संभवनीय है। ' अध्याहिताः ' का अर्थ ' ऊपर स्थिर रखना ' है। यहां भी एक नीचे की वस्तु और उस पर दूसरी वस्तु का रखा जाना है, यहां भी दो वस्तुओंका व्यवहार दीखता है। ' तिष्ठति ' का अर्थ ' ठहरता है ' ऐसा होता है, एक वस्तु दूसरी में ठहरती है। ' प्रतिष्ठित ' का अर्थ भी ' आश्रय प्राप्त करना ' है, ये अर्थ सब द्वैतसूचक हैं।

' आर्पिताः ' अथवा ' अर्पिताः ' पद समर्पित होने के अर्थ में हैं। यहां दो वस्तुओं का मिलान होने की बात स्पष्ट है। जल में मिश्री अर्पित हो गयी, तो वह उस में मिल गयी, ऐसा समझा जाता है। इसी तरह ' समाहिताः '

पद 'समाया जाने' का अथवा 'समानेका भाव' बता रहा है। समाना भी एक होना है। यद्यपि 'अर्पित होना और समाना' एक बनाने का भाव बतानेवाले पद हैं, तथापि पहले दो पदार्थ थे, पश्चात् एक बने, यह भाव इन पदों से व्यक्त होता है।

'चक्रे' पद से 'किया, बना दिया' यह भाव प्रकट होता है। (अग्निं आस्यं चक्रे) 'अग्नि को अपना मुख इसने बनाया।' इस में एकता की झलक अधिक दीखती है। अग्नि को ही जैसा वह है, वैसी अवस्थामें उस आधार-स्तंभने अपना मुख बनाया। अग्नि में कोई हेरफेर नहीं किया। अग्नि ही इस का मुख बना, इसी तरह सूर्य आंख बना, वायु प्राण बना आदि वाक्य हैं। अग्न्यादि देव प्रभु के शरीर के अनेक अवयव (चक्रे) बना दिये हैं। यहां देवताओं का प्रभु के शरीर से अभिन्न संबंध प्रकट हो रहा है। इस क्रिया का यह महत्त्व पाठक ध्यान में धारण करें।

इस से भी आगे की क्रिया 'विभेजिरे' है और वह पूर्व क्रिया से अधिक महत्त्व की है। विभक्त होकर रहते हैं। (यस्य अंगे त्रयस्त्रिंशद्देवा गात्रा विभेजिरे) 'जिस ईश्वर के शरीर में तैंतीस देव गात्र बन कर रहे हैं।' यहां ३३ देवों का शरीरावयवों में विभक्त होकर रहने का वर्णन है। ३३ देव पृथक् नहीं हैं, परन्तु परमात्मा के देह में नाना अवयवों के रूप में रहे हैं। इस से स्पष्ट होता है कि, ३३ देव ही प्रभु के शरीर के नाना अवयव हैं। पाठक यहां देखें कि क्रमशः क्रियापद के प्रयोग ऐसे हो रहे हैं कि जो द्वैत से पाठक को अद्वैत वा एकत्व के भाव की ओर ले जा रहे हैं। प्रारंभ में द्वैतक्रिया का प्रयोग है। सब मानव जगत् में सर्वत्र भेदभाव को ही देखते हैं, इसलिये मानव का उद्धार करने की इच्छा से उसके परिचित द्वैतभाव से ही उपदेश का प्रारंभ वेद करता है और एकएक वाक्य से मानव को ऊंचा उठाता हुआ अन्त में सदैक्यवाद की भूमिका पर आरूढ कर देता है। यह अद्भुत शैली यहां पाठकों को देखनेयोग्य है।

इस के आगे की क्रिया 'अभवन्' है, 'हो गये' यह इसका अर्थ है।

वैश्वानरः तस्य शिरः अभवत्,
अंगिरसः चक्षुः अभवन्

'वैश्वानर उस का सिर हुआ, अंगिरस चक्षु हो गये।' यहां स्पष्ट है कि, ये देवता उस के शरीर के अवयव हो गये हैं। देवतायें ईश्वर के शरीर की अवयव हैं, यह यहां स्पष्ट हो चुका है। (अभवन्) 'बन गये' यह अर्थ स्वयं जैसे थे, वैसे ही बन गये, यह भाव बता रहा है। सूर्य जैसा था, वैसा ही इस प्रभु का आंख बन गया है। यह अर्थ पाठक सर्वत्र देखें।

इस के पश्चात् क्रिया 'आहुः' है, इसका अर्थ 'कहते हैं' ऐसा है। (ब्रह्म यस्य मुखं आहुः) 'ब्राह्मण को जिस का मुख कहते हैं।' अर्थात् 'सूर्य को जिसकी आंख कहा जाता है।' यहां सूर्यको आंख कहना है, बनाना, रचना-विशेष करना नहीं है। तैंतीस देवताओं को परमेश्वर के तैंतीस अवयव कहते हैं। यहां उनमें हेरफेर, बनावट, रचना आदि कुछ भी नहीं है। जैसे तैंतीस देव हैं, वैसे ही वे परमेश्वरके अवयव हुए हैं। न हमने मानना है, न किसीने बनाना है। तैंतीस देवता परमेश्वर से भिन्न नहीं हैं, वे परमेश्वर के अंग ही हैं, उनको परमेश्वर के अंग मानना और वैसा कहना है।

'रामसिंग' को 'राजा' कहते हैं, इस में रामसिंग और राजा में अभेद है। न किसी रचनाविशेष से वह राजा कहा जाता है। इसी तरह यहां भी समझना चाहिये।

इन सब क्रियाओं में यही एक भाव देखना उचित है। सब क्रियाओं के विभिन्न भाव यहां अपेक्षित नहीं हैं। यहां इन सभी क्रियाओं से एक ही भाव समझना योग्य है। वह (अभवन्) 'हो गये हैं' अथवा (आहुः) 'कहे जाते हैं,' इन क्रियाओं से स्पष्ट होता है। इसी का अधिक स्पष्टीकरण आगेके मन्त्र करेंगे। अतः वे मन्त्र अब देखिये-

प्रजापति का विश्वरूप।

"एक के ही सहस्रशः विभाग हुए हैं।"

यत्परमं अवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्। कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद् बभूव ॥८॥

कियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं कियद्भविष्यद्-न्वाशयेऽस्य। एकं यदङ्गं अकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र ॥९॥

' जो उच्च स्थान में स्थित, जो मध्य स्थान में स्थित और जो निम्न स्थान में स्थित रूप है, वह (विश्वरूपं) विश्व का रूप प्रजापतिने सृजन किया है। (स्कम्भः) सब का आधारस्तम्भ (तत्र कियता प्रविवेश) वहां कितना प्रविष्ट हुआ है? और जिस में वह प्रविष्ट नहीं हुआ, वह कितना हुआ है? [क्या वहां कोई ऐसी वस्तु या स्थान है कि जहां सर्वाधार नहीं है?] सब का आधारस्तम्भ भूतकाल में बने पदार्थों में कितना प्रविष्ट हुआ था? भविष्य में बननेवाले पदार्थों में इस का कितना भाग प्रविष्ट होगा? [और वर्तमानकाल में बने पदार्थों में इस का कितना भाग प्रविष्ट हुआ है?] (एकं यत् अंगं सहस्रधा अकरोत्) इसने अपने एक अंग को सहस्रधा विभक्त किया है, इस में आधारस्तम्भ कितना प्रविष्ट हुआ है? '

इन मंत्रों में मुख्य वाक्य (एकं अंगं सहस्रधा अकरोत्) 'अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त किया है,' यह है। यदि यह मन्त्रभाग ठीक तरह समझमें आ जायगा, तो सब वेद का सिद्धांत और सद्वैक्यवाद का तत्त्व ठीक तरह समझ में आ जायगा। इस प्रभुने अपने एक अंग को सहस्रधा विभक्त कर के विश्वरूप बना दिया है। जैसे किसी वृक्ष के या किसी बेल के टुकडे करके लगाये, तो वे उगते हैं और उस का प्रत्येक टुकडा पहिले जैसा वृक्ष होता है, इसी तरह इस एक ही सर्वाधारने अपने एक अंगके सहस्रों टुकडे किये और ये नाना प्रकारके पदार्थ उन से बने हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, विद्युत्, वृक्ष, वनस्पति, पशुपक्षी, मानव आदि सब प्राणी ये सब उस सर्वाधार के एक अंग के विभिन्न छोटे-मोटे टुकडे हैं। जिस तरह मिश्री के ढेले के अनेक टुकडे बनाये, तो उस में मीठास सबों में एकसी भरी रहती है, इसी तरह परमात्मा के एक अंग के हजारों टुकडे होनेपर परमात्मा का ' सत्-चित्-आनन्द ' यह भाव सब में समभाव से ही रहता है। पाठक इस बात को ठीक तरह समझने का यत्न करें।

लकडी के टुकडे करने पर लकडी जैसी सब में व्याप्त रहती ही है, सोने के सैकडों टुकडे करने पर जैसा सब टुकडों में सोना पूर्णतया व्यापक रहता ही है, इसी तरह प्रजापतिने अपने एक अंग को सहस्रधा विभक्त कर के जो यह विश्वरूप-संसार का रूप-बनाया, उस विश्वरूप में वह प्रजापति पूर्णतया व्याप्त है, इस विषय में किस को संदेह हो सकता है? यह मंत्र ठीक तरह ध्यान में रखकर पूर्वोक्त प्रश्नों के उत्तर दीजिये-

१ प्रश्न- (परमं) द्युलोक, (मध्यमं) अन्तरिक्षलोक और (अवमं) भूलोक में जो सब रूप हैं, वे प्रजापतिने सृजन किये हैं। उस में प्रजापति कितना प्रविष्ट हुआ है? और ऐसा कितना भाग शेष रहा है, जिस में वह प्रविष्ट नहीं हुआ?

उत्तर- इस त्रिलोकी में जो पदार्थमात्र हैं, वह सब प्रजापति के एक अंश के सहस्रों विभाग बन कर बने हैं, इसलिये प्रत्येक पदार्थ में प्रजापति अपने निज रूपसे ही विद्यमान है और उसी कारण यहां कोई ऐसा पदार्थ नहीं है कि जो उस के विना हो।

२ प्रश्न- भूत, वर्तमान और भविष्य कालों में जो इस विश्व में नाना रूप रहते हैं, उन में सर्वाधार प्रभु कितनासा प्रविष्ट हुआ है?

उत्तर- सर्वाधार प्रभु के एक अंश के सहस्रों विभाग होकर ही यह सब तीनों कालों में विद्यमान संसार के सब पदार्थ बने हैं। चूंकि उसी के एक अंश के विभागों से ये सब पदार्थ बने हैं, इसलिये यह स्पष्ट है कि, इन सब में वही विद्यमान है और ऐसा कोई पदार्थ यहां नहीं है कि जिसमें वह प्रभु विद्यमान न हो।

उक्त मंत्रों का प्रश्नोत्तररूप आशय यह है। पूर्वोक्त मंत्रों का आशय भी इसी मंत्र से समझना उचित है। पाठक विचार करेंगे, तो वे पूर्वोक्त सब मंत्रों को इस भाव से समझ सकते हैं। इस का एक अंग सहस्रधा विभक्त हुआ है और उन से यह संसार बना है, यही एक बात ठीक तरह समझ में आनी चाहिये। सद्वैक्यवाद की दृष्टि से यह मंत्रभाग अत्यन्त महत्त्व का है।

श्रेष्ठ ब्रह्म।

० प्रजापति

।

। । ।

० ० ० त्रिलोकी

।।।।।।।।।।। ।।।।।।।।।।। ।।।।।।।।।।। तेंतीस देवता।

विश्व का रूप।

इस तरह एकके हि अंशसे सहस्रधा विभक्त होकर नाना प्रकार के रूप बने हैं, संपूर्ण विश्व, संपूर्ण संसार इसी तरह बना है। अतः यह विश्व ही परमेश्वर का स्वरूप है, जो साधक को सेव्य है।

जिस तरह मिश्री के अनेक खिलौने बनाने पर सब में मिश्री ही रहती है, जिस तरह कपास के अनेकानेक वस्त्र बनने पर सब में कपास ही रहता है, जिस तरह 'अ' कार से सब वर्णमाला, शब्द, वाक्य और सब वाङ्मय बनने पर सब में 'अ' कार ही व्याप्त रहता है, इसी तरह एक ही प्रजापति के एक अंग से सहस्रधा विभक्त होकर संपूर्ण विश्व बनता है, उस में पूर्णतया प्रजापतिहि व्यापक रहता है। क्योंकि वहां दूसरा कोई आवेगा ऐसा नहीं है, जो अंग सहस्रधा विभक्त हुआ, वह प्रजापतिहि था। उस अंग के सहस्रों, लाखों, करोडों या परार्धावधि विभाग करके प्रत्येक विभाग के और अनेक प्रविभाग भी बनाये गये, तो वे प्रजापतिके ही भाग, विभाग अथवा प्रविभाग होंगे। वहां किसी दूसरे का आना सम्भव ही नहीं है। अत: प्रजापतिके एक अंगसे बने इस विश्व में संपूर्णतया प्रजापति ही भरपूर भरा है, यह स्पष्ट है।

यहां टुकडों की कल्पना इस विषय के समझाने के लिये की है। वस्तुतः इस विश्वमें एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न, पृथक् और अलग नहीं है। सब पदार्थ बीचके अग्नि, वायु, आकाश से जोडे गये हैं, अतः सब एक ही वस्तु है। और वह एक ही वस्तु नाना रूपों में प्रतीत होती है, अतः सब विश्वरूप इसी प्रजापति का रूप है और वह रूप अखण्ड, अटूट, अनन्य, अपृथक् है।

यहां पूर्व स्थान में जो क्रियापदविचार किया उन क्रियापदों में 'विभेजिरे, अभवन्' ये क्रियापद थे। इनका स्पष्टीकरण यहां के 'एक अंग को सहस्रधा विभक्त कर के संसार बना है,' इस विधान से होता है। 'विभेजिरे' पद से भी विभक्त होने का भाव टपकता है। विश्व में विभक्तता प्रतीत होती है। पुरुषसूक्त में 'प्रथम पृथ्वी हुई और पश्चात् उस पर के शरीर बने,' ऐसा ५ वें मंत्र में कहा है। तथा उस का 'एकपाद सब भूत हैं,' ऐसा तृतीय मंत्र में कहा है। इस सब विवरण का आशय इस स्कम्भसूक्त में 'एक अंश सहस्रधा विभक्त होकर यह संसार बना,' इस विधान में पाया जाता है। पाठक इस तरह पूर्व लेखों में आये वर्णनों का समन्वय करते रहें।

परमेश्वर के पांव, पेट, मस्तक क्रमशः भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक हैं, सूर्य आंख है, वायु प्राण है, नदियां नस-नाडियां हैं, वृक्ष केश हैं, दिशाएं कान हैं, अग्नि मुख है, इस तरह यह परमात्मा विश्वरूप है। अथवा इस के एक अंश से यह सब विश्व बना है। परमेश्वर अदृश्य है, ऐसा अब कोई न मानें, परमेश्वर ही यह सब विश्व है, अतः वह दीखता है। मनुष्य, गाय, घोडे आदि सब प्राणी परमेश्वर के ही रूप हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये ईश्वर के सिर, बाहु, पेट और पांव हैं। यही ईश्वर साधक के द्वारा संसेव्य है। इस प्रभु की सेवा किस तरह करनी चाहिये, इसका ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को हो सकता है। इसीके विषयमें अब थोडासा और देखिये–

असत् से उत्पन्न हुए बडे देव।

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य असद् आहुः परो जनाः ॥ २५ ॥
यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनु सं विदुः ॥ २६ ॥

'(ते देवाः बृहन्तः नाम) वे देव बडे प्रसिद्ध हैं, (ये) जो (असतः परि जज्ञिरे) असत् से उत्पन्न होते आये हैं। यह जो (असत्) असत् है, (तत् स्कम्भस्य एकं अंगं) वह इस आधारस्तंभ प्रभु का एक अंग है, ऐसा (परः) विशेषतः (जनाः आहुः) ज्ञानी लोक कहते हैं। (यत्र) जहां (स्कम्भः) सब का आधारस्तंभ परमेश्वर सृष्टि का (प्रजनयन्) प्रजनन करता हुआ (पुराणं व्यवर्तयत्) प्राचीन रूप को प्रकट देता है, तब (तत् पुराणं) वह प्राचीन रूप भी (स्कम्भस्य एकं अंगं) सब के आधारस्तंभ परमेश्वर का एक अंग था, ऐसा ज्ञानी लोग (अनु सं विदुः) ठीक तरह

अनुसंधान करके जान लेते हैं । '

यहां ' **असत्** ' नामक एक अङ्ग उस सब के आधारस्तम्भ का अङ्ग है, ऐसा स्पष्ट कहा है। अर्थात् **असत्** और **सत्** ऐसे दो अङ्ग इस एक ही स्कम्भ के हैं, यह बात यहां स्पष्ट हुई । स्कम्भ एक ही है, पर उसके दो अंग हैं, एक सत् और दूसरा असत् । यहां समीकरण ऐसा हुआ-

स्कम्भः = [सत् + असत्] (वेदोक्त देव)
| |
आत्मा + ३३ देव

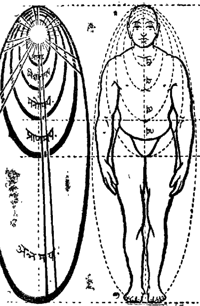
पुरुषोत्तम = अक्षर + क्षर (गीतोक्त देव)

वेद में ' सत् + असत् = स्कम्भ ' इस परिभाषा से जो तत्त्वज्ञान कहा है, वही तत्त्वज्ञान श्रीमद्भगवद्गीता में ' अक्षर + क्षर = पुरुषोत्तम ' इस परिभाषा से कहा है। इस का विवेचन हमने ' मीठास + ढेला = मिश्री ' इस दृष्टान्त से किया है । जिस तरह ' **मिश्री** ' का एक अंग ' मिठास ' है और दूसरा अंग ' ढेला ' है, और ये दोनों अंग कभी विभक्त नहीं रह सकते, सदा एकत्र ही रहते हैं, जो ' मिश्री ' नाम से दोनों इकट्ठे बोधित होते हैं; इसी तरह ' स्कम्भ ' के दो अङ्ग हैं, एक ' **सत्** ' जो चैतन्यरूप से अनुभव में आता है और दूसरा ' **असत्** ' जो बदलनेवाले जगद्रूप से अनुभव में आता है, परन्तु ये दो कभी पृथक् नहीं रहते, सदा एक दूसरे के साथ मिले-जुले ही रहते हैं, जिन दोनों संमिलितों को मिलकर ' स्कम्भ ' नाम यहां दिया है । कभी विभक्त न रहनेवाले और सदा परस्पर संमिलित रहनेवाले ये दो ' भाव ' हैं, ये परस्पर दो पृथक् वस्तुएं नहीं हैं ।

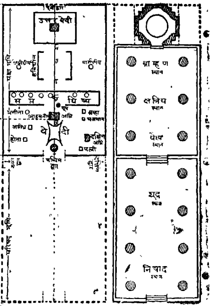
कल्पना से पृथक् 'भाव' मानना और बात है और वस्तु रूप में पृथक् ' वस्तुसत्ता ' होना और बात है। जैसे ' मीठास और रवा ' ये कल्पनागत भेद हैं, उनको पृथक् वस्तुसत्ता नहीं है, वैसे ही ' सत् और असत् ' ये कल्पनागत भेद हैं, इनको द्रव्यरूप वस्तुसत्ता नहीं है, इसीलिये ये (**स्कम्भस्य एकं अंगं**) आधारस्तम्भ परमेश्वर का यह एक अंग ही है, ऐसा इन मन्त्रोंमें कहा है । अंग 'अंगी' से कभी पृथक् नहीं रहता, यह बात सब जान सकते हैं । अतः वेदमंत्रने यहां 'अंग ' शब्द का प्रयोग करके प्रकृतिकी पृथक् सत्ता का सर्वथा निराकरण किया और 'एक ही वस्तु' है, एक ही ' सत् ' है, यह विशेष रीति से स्पष्ट किया । इस तरह ' सदैक्यवाद ' की पुष्टि इस मन्त्रने की है, पाठक इस का अनुभव लें और इस प्रकार वेद का सदैक्यवाद जानने का यत्न करें ।

जिसको दार्शनिक ' प्रकृति ' कहते हैं, उस को वेदने यहां ' असत् ' कहा है । यहां के ' असत् ' का अर्थ (अ-सत् Non-existence) अभाव नहीं है । (**अस्यति इति**) ' असत् ' वह है, जो अपने अन्दरसे अनेक वस्तुओं को बाहर फेंकता रहता है । बाहर फेंकने के अर्थ के 'अस्' धातु का बना यह पद है । इस का अर्थ ' प्रकृति ' है, यह प्रकृति सर्वाधार प्रभु का ही एक अंग है, उस प्रभु से सर्वथा पृथक् सत्ता इस में नहीं है । यह परमेश्वर की निज प्रकृति अर्थात् (प्रकर्षयुक्त कृति) विशेष वस्तुओंको निर्माण करने की शक्ति है । जिस तरह किसी चित्रकार में अथवा किसी कारीगर में नाना प्रकार के पदार्थ निर्माण करने की शक्ति होती है, वह शक्ति उसी के जीवन का भाग होती है और उस से पृथक् नहीं होती; इसी तरह प्रभु की यह शक्ति प्रभु के एक अंग के रूप में उसी में रहनेवाली है, इस से (**बृहन्तः देवाः**) बड़े देव सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि बने हैं । ये किसी भिन्न प्रभुसे विभिन्न-वस्तु से बने नहीं हैं । प्रभु के ही निज अंग से बने हैं और उसी प्रभु के अंगों में रहे हैं । ' तैंतीस देव उस के गात्र बनकर रहे हैं, ' ऐसा जो २७ वें मन्त्र में कहा है, उस का अर्थ भी यही है ।

यह प्रभु (प्रजनयन्) अपने इस अंग से संपूर्ण विश्व निर्माण करता है, यह निर्माण करना वर्तमान काल में होता है, अतः भूतकाल में जो सृष्टि थी, उस (**पुराणं व्यवर्तयत्**) पुराणी सृष्टि को उलटाना, मिटाना, फिरा देना या नष्ट करना आवश्यक ही होता है । इसलिये पुराणी सृष्टि चली जाती है और नयी निर्माण होती है । इस तरह यह संसार का व्यवर्तन-चक्र फिरता रहता है । जैसा वर्तमान संसार उस प्रभु का एक अंग है, उसी तरह भूतकाल का संसार भी प्रभु का एक अंग था, और इसी नियमानुसार भविष्यकाल में निर्माण होनेवाला संसार भी उसी प्रभुका अंग होकर ही रहेगा । उससे उसकी सत्ता पृथक् नहीं होगी, क्योंकि उसी के एक अङ्ग से यह बना है । ये असत् और सत् उसीमें रहते हैं, इस विषयमें और देखिये-



पंचकोश।



यज्ञ।

सदसत् उसीमें है।

यत्र लोकाश्च कोशांश्च आपो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः
स्विदेव सः ॥ १० ॥

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम्।
ऋतं च यत्र श्रद्धा च आपो ब्रह्म समाहिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ११ ॥

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परमं इव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखां उपासते॥२१॥

'(यत्र) जिस में (लोकान् च) तीनों लोक (कोशान् च) पंच कोश, (आपः) जलप्रवाह और (ब्रह्म) अन्न रहता है, (असत् च सत् च यत्र अन्तः) असत् और सत् जिसके अन्दर रहते हैं, ऐसा (जनाः विदुः) ज्ञानी लोग जानते हैं, तथा (तं स्कंभं ब्रूहि) उस सब के आधारस्तंभ प्रभु का वर्णन कर, वह अनेकों में एक ही सब का आधारस्तम्भ है। जिस के अन्दर तप के पश्चात् श्रेष्ठ व्रत का धारण करते हैं, जिस के अन्दर ऋत, श्रद्धा, आप् और अन्न तथा ज्ञान समाये हैं, उस सब के आधारस्तम्भ का वर्णन कर, वह एक ही अनेकों का आधारस्तंभ है। (प्रतिष्ठन्तीं शाखां) प्रतिष्ठा पायी संसाररूपी शाखा को असत् से उत्पन्न होने पर भी (परमं इव) श्रेष्ठ जैसी ही (जनाः विदुः) ज्ञानी लोग मानते हैं। परन्तु दूसरे (अ-वरे) कनिष्ठ प्रकार के लोग हैं, जो (उतो सत् मन्यन्ते) उस को सत् मानते हैं, (ये ते) जो वे केवल (शाखां उपासते) उस शाखा की ही उपासना करते हैं।'

यहां दो प्रकार के लोग कहे हैं, (१) एक वे लोग कि जो इस सब संसार को परमेश्वर के असत् नामक अङ्ग से उत्पन्न हुआ मानते हैं, और इस कारण उस को परम श्रेष्ठ जैसा मानते हैं और उस को परम श्रेष्ठ समझ कर उस की उपासना करते हैं। यह संसार सर्वाधार स्तम्भ परमात्मरूपी वृक्ष की एक शाखा है, ऐसा समझ कर अखण्ड वृक्षरूप से उस शाखा की उपासना वे करते हैं।

(२) दूसरे एक प्रकार के लोग हैं कि जो इस संसार को, केवल इस शाखा को ही, सत् मानते हैं और मूल वृक्ष का विचार न करते हुए, केवल इस शाखा की ही उपासना करते रहते हैं, ये अवर अर्थात् कनिष्ठ लोग हैं।

एक वृक्ष है, उस की संसाररूपी एक शाखा है, ऐसा मानकर सब शाखाओं से युक्त संपूर्ण, अखण्ड और अटूट वृक्ष की भेदरहित एक अखण्ड सत्ता को मानना और उस की किसीएक शाखा की उपासना करते समय संपूर्ण, अखंड, अटूट वृक्ष की अनन्य उपासना करने के हेतु से, उस शाखा की उपासना करना श्रेष्ठ ज्ञानियोंका कार्य है।

यहां दो प्रकार के उपासक कहे हैं। दोनों प्रकार के लोग शाखा की ही उपासना करते हैं। क्योंकि यह वृक्ष इतना प्रचण्ड है कि संपूर्ण वृक्ष की उपासना करना मानव के लिये असम्भव ही है। अतः उपासना करनेवाले किसी शाखा की अथवा शाखा के किसीएक भाग की ही उपासना करते हैं। परन्तु इस उपासना के करनेके समय दोनों के मन में विभिन्न भाव रहते हैं। (१) जो तो श्रेष्ठ ज्ञानी लोग हैं, वे जानते हैं कि यह शाखा एक बडे वृक्ष की शाखा है, इस वृक्ष को इस तरह की अनेक शाखाएं हैं। इस वृक्ष का विस्तार बडा है। शाखाओं को बाहर फैलाना इस वृक्ष की निज शक्ति है। यह तत्त्व ये जानते हैं और जिस शाखा की सेवा करनी हो, उस शाखा की सेवा, संपूर्ण वृक्ष की यह शाखा है, ऐसा मान कर, अखंड वृक्ष की किसी तरह हानि न करते हुए, उस शाखा की सेवा वे करते हैं। ये श्रेष्ठ ज्ञानी हैं। यह इनकी उपासना अनन्यभाव से होती है। (२) दूसरे कनिष्ठ लोग हैं, वे अपने पास की शाखा को ही संपूर्ण और पृथक् वृक्ष समझते हैं, दूसरी शाखा को काटते, तोडते-मरोडते हैं, वृक्ष की जड को भी उखाड देते हैं, और अपनी ही शाखा का पोषण करने का यत्न दूसरी शाखा की हिंसा कर के करते हैं। ये अखंड, संपूर्ण वृक्ष को जानते नहीं। अपनी एक शाखाको ही ये सब कुछ मानते हैं। इन के प्रयत्न से अन्य शाखाओं को तथा वृक्ष को भी क्षति पहुंचती है। इसलिये ये लोग हीन अथवा नीच समझे गये हैं।

इस परमात्मरूपी वृक्ष की मानवसमाजरूपी अनेक शाखाएं हैं। अपने समाज का हित करने के लिये जो दूसरे समाजों को तथा अपने राष्ट्र का हित करने के लिये दूसरे राष्ट्रों को काटने का यत्न करते हैं, वे कनिष्ठ प्रकार के लोग हैं, क्योंकि सब मानवजातियाँ एक ही परमात्म-रूपी वृक्ष की अनेक शाखाएं हैं, ऐसा वे जानते नहीं। (यातवः यस्य अङ्गानि १८) प्राणी जिस के अंग हैं, वह परमात्मा है, यह ज्ञान उनको नहीं है। परन्तु सब प्राणी अथवा सब स्थावर-जंगम विश्व परमात्म-वृक्ष की शाखाएं हैं, ऐसा जो ज्ञानी जानते हैं, वे अपनी शाखा की अर्थात् अपनी जाति की अथवा राष्ट्र की सेवा ऐसी करते हैं कि, जिस से अन्य शाखाओं की हानि न हो। ऐसा जो करते हैं, वे श्रेष्ठ लोग हैं।

इस विचार से पाठकों को पता लगा होगा कि अद्वैतवाद की दृष्टि से वेद का उपदेश कितना स्पष्ट है। सर्वाधार प्रभु है और उस में पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्युलोक ये तीन लोक हैं, अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय ये पंचकोश हैं, सब जलप्रवाह उसी में बहते हैं, सब अन्न, सब प्रकार के तप और व्रत, ऋत, सत्य और श्रद्धा ये सब उसी में समाये हैं। उसी में 'सत् और असत्' रहे हैं। असत् से सब देवताएं तथा सब संसार हुआ है, सत्से संचालन हो रहा है। यह सब विश्व उसी का रूप है। इसलिये किसी की सेवा करनी हो, तो सब ब्रह्माण्ड मिलकर एक सत् है, ऐसा जानकर अखंड भाव से ही उपासना करनी चाहिये।

स्तम्भ का आधार।

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्। स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥ ३५ ॥
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिन्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥

'(स्कम्भः) सब के आधारस्तम्भने ही पृथ्वी, बडा अन्तरिक्ष और द्युलोक (दाधार) धारण किया है, इसी आधारस्तम्भने दिशा और उपदिशाओं का धारण किया है, वही सब विश्व में प्रविष्ट हुआ है। इस भुवन के मध्य में बडा यक्ष रहता है, वह जल के पृष्ठपर प्रकट हुए प्रकाश

में गति करता है। जो कोई देव हैं, वे सबके सब (तस्मिन् श्रयन्ते) उसी के आश्रय से रहते हैं, जैसे (वृक्षस्य स्कन्धः) वृक्ष का धड होता है और उस के (परितः) चारों ओर (शाखाः इव) जैसी उस की शाखाएं होतीं हैं।'

त्रिलोकी का आधार वही है, जो भी कुछ है, उस को इसी का आधार है। इस के एक अंग से ही सब संसार बना है, इसलिये सोनेके जेवरोंमें सोना घुला रहनेके समान वह प्रभु इस विश्व में रहता है। संपूर्ण विश्व में वही प्रभु अनन्य और अखण्ड भाव से यजनीय वा पूजनीय है। सब देव इसी में आश्रय पाते हैं, जैसे सब जेवर सोने में आश्रय पाते हैं, जो उस से बने होते हैं। इसके एक अङ्ग से सब देव बने हैं, (मन्त्र २५) इसीलिये सब देव इसी के आश्रय से रहते हैं, अथवा सब में वही व्याप कर रहा है, जैसी मिट्टी घडों में व्यापक रहती है।

वृक्ष और उस की शाखाओं की उपमा यहां दी है। वृक्ष परमेश्वर है और शाखाएं देवताएं हैं, वृक्ष की अपनी शक्ति से शाखाएं फैलती हैं, सब शाखाओं को वृक्ष का आधार है, सब शाखाओं में वृक्ष व्याप रहा है, परन्तु वृक्ष शाखाओं से भिन्न नहीं। इसी तरह परमेश्वर और तैंतीस देवता हैं, वे परमेश्वर के आधार से कार्य करती हैं, और परमेश्वर उन में व्यापता है। परमेश्वर पृथक् और संसार पृथक् नहीं हैं, परमेश्वर के एक अंश से सब संसार बना है, इसलिये अङ्गरूप होने से जो व्यापकता होती है, वह अपृथग्भाव से होती है। लोहे में अग्नि व्यापक होता है, यह व्यापकता पृथग्भाव से हुई है, परन्तु वस्त्रमें कपास की व्यापकता अपृथग्भाव से है। जो परमेश्वर की सर्व-व्यापकता है, वह अपृथग्भाव से है, यही यहां स्पष्ट किया है। इसलिये परमेश्वर को 'अ-भिन्न-निमित्त-उपादान-कारण' दार्शनिक मानते हैं।

ऋषियों का निवास।

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कंभं तं ब्रूहि
कतमः स्विदेव सः ॥१४॥

पिप्पलाद पाठ--

यत्र ऋषयो भूतकृत ऋचः साम यजुर्मही।
(अ. पि. १७-८-५)

'जहां प्रथम उत्पन्न हुए ऋषि, ऋग्वेद सामवेद और बडा यजुर्वेद तथा मुख्य एक ऋषि समाये जाते हैं, उस आधारस्तम्भ का वर्णन कर, वह एक ही अनेकों का एक-मात्र आधार है। (पिप्पलाद-संहिता का पाठ) जहां सूक्तों को बनानेवाले ऋषि, ऋक्, साम और बडा यजु ये सब समाये हैं।'

यहां सब ऋषियों का आधार परमेश्वर बताया है। ऋषियों से चारों वर्णों की उत्पत्ति होने का वर्णन पुराणों में है। परमात्मा से ऋषि हुए और ऋषियों से चारों वर्णों की प्रजा उत्पन्न हुई। अर्थात् सब प्रजा परमात्मा से ही उत्पन्न हुई है। पुरुषसूक्त में कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र परमेश्वरके मुख,बाहु, पेट और पांव हैं। वही बात यहां कहीं है। सब ऋषि परमेश्वर के शरीर में समाये हैं और सब ऋषियों में चारों वर्ण समाये हैं।

इस तरह सब मानवजातियां परमात्मारूप वृक्ष की शाखाएं हैं। इसमें से अपनी जाति की सेवा मानवों को ऐसी अखंड भाव से करनी चाहिये कि, जिस से अखंड मानवजातिकी उन्नतिमें किसी तरह क्षति न हो सके। यह सामाजिक, जातीय, तथा राष्ट्रीय सेवाका मूल सूत्र है। विभक्त भाव से सेवा करने से दोष उत्पन्न होंगे और अनन्य (अ-पृथक्) भाव से सेवा करने से सब की उन्नति होगी।

यहां ऋषियों की उत्पत्ति के विषय में वर्णन किया है। अब ऋषियों के पश्चात् वेदों की उत्पत्ति के विषय में वर्णन करते हैं-

वेदों की उत्पत्ति।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाऽङ्गिरसो मुखम्
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥२०॥

पिप्पलादपाठ--

छंदांसि यस्य लोमानि। (अ. पि. १७-९-१)

'जिस से ऋचाएं बनीं, जिससे यजु के मंत्र प्रकट हुए, सामगान जिस के केश हैं और अथर्वा तथा अंगिरस जिस का मुख है, उस सब के आधारस्तम्भ का वर्णन कर,

वह एक अनेकों का आधार है। (पिप्पलाद०) छन्द जिस के बाल हैं।'

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये सब इसी प्रभु से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रभु का मुख ब्राह्मण अथवा आंगिरस ऋषि है और ऋषि ही मंत्रों का द्रष्टा है। इसलिये प्रभु से ऋषि हुए और उन से मंत्र प्रकट हुए। इस विषय में पुरुषसूक्त के स्पष्टीकरण में जो विवरण किया है, वही यहां देखनेयोग्य है।

परमेश्वर का आधार जैसा सब विश्व के लिये है, वैसा ही वेदों और ज्ञानप्रवाहों के लिये भी है, क्योंकि उस से भिन्न कोई वस्तु यहां नहीं है।

यज्ञ का आधार।

यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१६॥ यज्ञो यस्मिन् पराक्रांतः।

(पिप्पलाद. १७-८-६)

'यज्ञ जहां अपनी शक्ति प्रकट करता है, उस सर्वाधार परमेश्वर का वर्णन कर। वह अनेकों में एक ही सब का आधार है।'

वेद बनने पर वेदानुकूल यज्ञ बने और वे यज्ञ अपना वैयक्तिक, कौटुंबिक, जातीय, सामाजिक, राजकीय, राष्ट्रीय तथा जागतिक सामर्थ्य प्रकट करने लगे। अर्थात् यज्ञ से इन सब की उन्नति होने लगी। जैसा परमेश्वर मानवों का आधार है, वैसा ही ज्ञान का और कर्म का भी आधार है। ये ज्ञान और कर्म मानवों की उन्नति करनेवाले हैं। वहां मानव, वेद और यज्ञ ये परमात्मरूप ही हैं, यह बात पाठकों के ध्यान में आ चुकी होगी। आहुति, हवि, अग्नि, हवनकर्ता ये सब ब्रह्मरूप हैं।' (गी. ४।२४) तथा 'क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधि, मंत्र, घृत, अग्नि और हवन यह सब मैं ही हूं। (गी. ९-१६)' ये कथन इन मंत्रों के साथ विचारपूर्वक तुलना कर के देखनेयोग्य हैं, क्योंकि वेद का और गीता का कथन इस विषय में एक ही है।

प्रजापति का आधार।

यस्मिंस्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत्। स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥७॥

'जिस में ठहरकर प्रजापतिने सब लोकों का धारण किया, वह सब का आधार परमेश्वर है। उस का वर्णन कर। वही अकेला अनेकों का धारण करनेवाला है।

२

परमेश्वर के एक अंग से सब लोक और लोकान्तर बने हैं, उन में प्रजापति भी संमिलित है। अर्थात् प्रजापति, सब लोक, सब विश्व आधारस्तम्भ के एक अंग से बने हैं, अतः वह सब इस के आधार से रहा है, जैसे जेवर सुवर्ण के आधार से रहते हैं। पूर्वस्थान में जो वर्णन किया है, उस के अनुसंधान से यह बात सहज ही से पाठकों के ध्यान में आ सकती है।

ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना।

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥२४॥

'(ब्रह्मविदः देवाः) ब्रह्म के ज्ञाता देव (यत्र) जहां (ज्येष्ठं ब्रह्म उपासते) श्रेष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं, (तान्) इनको (यः वै प्रत्यक्षं विद्यात्) जो निश्चय से प्रत्यक्ष जानता है, (सः ब्रह्मा) वह ब्रह्मा कहलाता है और वही (वेदिता स्यात्) ज्ञाता होता है।'

जहां सब देवता ब्रह्म की उपासना कर रहे हैं, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, यह बात यहां कही है। अपनी आंख से ब्रह्म और सब देवता तथा देवताद्वारा होनेवाली ब्रह्म की उपासना यह प्रत्यक्ष का विषय है। यह सब आंख से देखा जाता है। जो इस सब को देखता है, वह ब्रह्मा अथवा ज्ञाता होता है।

सब विश्वरूप ब्रह्म है, सब देवता उस के अंग-प्रत्यंग ही हैं, सब देवता उसी के लिये कार्य कर रहे हैं, इस का वर्णन इस समय तक हुआ है। यह वर्णन जिस के समक्ष में आ गया होगा, वह ब्रह्मा और ज्ञाता कहनेयोग्य होगा। सूर्य उस के लिये प्रकाश करता है, वायु उस के लिये बहता है, जलप्रवाह उसी के लिये शक्ति दे रहे हैं, इस तरह सब देव इसी का कार्य कर रहे हैं। यही देखना, जानना और समझना है, यही वर्णन इसी सूक्त के निम्नलिखित मंत्र में देखिये-

देवों का बलिसमर्पण।

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा। यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं

स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥३९॥

'(यस्मै) जिस के लिये हाथों, पैरों, वाणी, कान और चक्षु आदि से सदा (विमिते) परिमित स्थान में रहकर (देवाः अमितं बलिं प्रयच्छन्ति) सब देव अपरिमित बलि अर्पण करते हैं, वह सब का आधार परमात्मा है, उस का वर्णन कर, वह अनेकों का एक ही आधार है।'

यहां सब देव उसी के लिये कार्य कर रहे हैं, यह बात स्पष्ट शब्दों से बतायी है। यहाँ का वर्णन विशेष कर मानवों का वर्णन समझना उचित है, क्योंकि 'हाथ, पाँव, वाणी, कान और आंख से कार्य करनेवाला' मानव ही है। वाणी का इंद्रिय अन्य योनियों में इतना कार्यक्षम नहीं है, जितना मानव में है। इसलिये यहां हाथों, पाँवों, वाणी, कानों, और आंखों से बलिका समर्पण करना यह मुख्यतः मानवों का ही कर्तव्य है। यही परमेश्वर का मानवोंद्वारा होनेवाला यजन है। मनुष्य का हरएक इंद्रिय प्रभु की सेवा में ही लगना चाहिये और सदा वही कार्य उस से होता रहना चाहिये।

अन्यान्य उपासनाएं जो इस समय नाना धर्मपन्थों में प्रचलित हैं, वे उपासनाएं मनुष्य के सब इंद्रियों से होनेवाली नहीं हैं और 'सदा' भी नहीं हो सकतीं। आधारस्तम्भ परमेश्वर का यजनपूजन उसी के द्वारा निरन्तर हो सकता है, जो सब विश्व को परमेश्वर का रूप मानते हैं। विश्व ही परमात्मा होने से और मानव का सब व्यवहार निरन्तर इस विश्वमें ही हो रहा है, इसलिये मानव का सभी व्यवहार निरन्तर परमेश्वरके साथ ही हो रहा है। अतः विश्वरूप परमेश्वर का ज्ञान होने पर उस की वृत्ति सदा ईश्वररूप ही होगी, और सदासर्वदा सभी व्यवहार करने के समय वह मानव परमेश्वर की ही सेवा अपने हाथों, पाँवों, आंखों, कानों और अपनी वाणीसे सदा ही करता रहेगा। विश्वरूप परमेश्वर का ज्ञान होने पर ही यह सिद्ध होनेवाली बात है, उस के पूर्व अन्य प्रचलित उपासनाओं में यह बात सिद्ध होनेवाली नहीं है।

अन्य सूर्यचन्द्रादि देव, अन्य प्राणी ये सब अपने स्वभाव और सामर्थ्य से सदा परमेश्वर को बलि देते ही हैं, पर मानवों को ही यह बलि समर्पण कर के 'यज्ञ' करने का उत्तम सामर्थ्य प्राप्त हुआ है, इसलिये सर्वैक्यवाद का तत्त्वज्ञान जानना और तदनुसार अपना अखण्ड जीवन ही पूर्णतया और सदा प्रत्येक क्षणक्षण में यज्ञरूप बनाना मानव के लिये ही शक्य है। वैसा अन्यों को शक्य नहीं है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड।

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥१७॥

पिप्पलादपाठ—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः।
(अ. पि. १७।८)

'(ये पुरुषे ब्रह्म विदुः) जो मनुष्य में ब्रह्म को जानते हैं, (ते परमेष्ठिनं विदुः) वे परमेष्ठी को जानते हैं। जो परमेष्ठी को जानते हैं, जो प्रजापति को जानते हैं और जो श्रेष्ठ ब्राह्मण को जानते हैं, (ते स्कम्भं अनुसंविदुः) वे सब के आधारस्तम्भ को सम्यक रीति से जानते हैं।'

यहां 'पुरुष और परमेष्ठी' ये दो पद हैं। 'पुरुष' व्यक्ति का दर्शक है और 'परमेष्ठि' परम समष्टी का द्योतक है। व्यष्टि, समष्टि, परमेष्ठी ये तीन एक से एक विस्तृत हैं। व्यक्ति का नाम व्यष्टि है, अनेक व्यक्तियों की मिलकर समष्टि होती है। जैसा एक आमका वृक्ष 'व्यक्ति' है, अनेक आमों की 'समष्टि' होगी और सब स्थिरचर पदार्थों की परमेष्ठी होगी। इस तरह इन पदों को समझना चाहिये।

विश्व में जो देव हैं, वे ही अंशरूप से आकर व्यक्ति के इंद्रिय बने हैं। व्यक्ति, समष्टि और परमेष्ठीका सम्बन्ध है—

ब्रह्माण्ड, परमेष्ठी	समष्टि	पिण्ड, व्यष्टि
परमेष्ठी में देव	मानवसमष्टि	व्यक्तिमें इंद्रिय
सूर्य	द्रष्टा, ब्राह्मण	आंख
वायु	–क्षत्रिय	प्राण
तैजस	वक्ता	वाक्
अग्नि	—	मुख
दिशाएं	श्रोता	कान
औषधि	वैद्य	केश
नदियां	—	नाडियां
पृथ्वी	शूद्र	पांव

इस तरह व्यष्टि-समष्टि-परमेष्ठी में देवताएं हैं। सब की सब ३३ देवताएं इस तरह व्यष्टि समष्टि में अथवा पिण्ड-ब्रह्मांड में देखने से जो नियम व्यक्ति में वही ब्रह्मांड में है, इस का ज्ञान हो सकता है। इसीलिये इस मंत्र में कहा है कि, जो पुरुष में ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठि प्रजापति और बाह्य विश्व में ब्रह्म को जानते हैं, यहां परमेष्ठी, प्रजापति, ब्राह्मण और स्कम्भ पद एक ही अर्थ में हैं, इन में किंचिन्मात्र गुणकर्म का भेद है। पिण्ड-ब्रह्मांड की एकता इस में कही है। पिंड-ब्रह्मांड में एक ही ब्रह्म है, ब्रह्म का सूक्ष्म रूप पिंड और विस्तृत रूप ब्रह्मांड है।

हिरण्यगर्भ का प्रकटीकरण।

हिरण्यगर्भं परमं अनत्युद्यं जना विदुः।
स्कम्भः तदग्रे प्रासिंचत् हिरण्यं लोके अन्तरा॥२८

'(**जनाः विदुः**) सब लोग जानते हैं कि, (**हिरण्यगर्भं परमं**) हिरण्यगर्भ श्रेष्ठ देवता है, तथा (**अनत्युद्यं**) अवर्णनीय है। (**स्कम्भः**) सब के आधारस्तम्भने ही (**अग्रे**) सब से प्रथम (**लोके अन्तरा**) इस विश्व के बीच में (**तत् हिरण्यं प्रासिंचत्**) वह सुवर्ण प्रकर्ष से सिंचित किया।'

सर्वाधार परमेश्वरने सब से प्रथम अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया। हिरण्यगर्भ सूर्य का जलता गोलक ही है। सब से प्रथम हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुआ। पर ब्रह्म की यह सब से प्रथम की सृष्टि है। हिरण्यगर्भ के पश्चात् नाना लोकलोकान्तर हो गये, और पृथ्वी होने के पश्चात् पृथ्वी पर की वृक्षवनस्पति, पशुपक्षी और मानवसृष्टि हो गयी है। यहां पहिली हिरण्यगर्भ सृष्टि है, इतना ही कहा है। पुरुषसूक्त में इस के आगे का वर्णन है। (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) पहिले भूमि और पश्चात् उस पर के नाना शरीर हुए हैं।

यः श्रमात्तपसो जातो, लोकान् सर्वान् समानशे।
सोमं यश्चक्रे केवलं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ३६

'**जो श्रम और तप से प्रकट हुआ, जिसने सब लोक व्याप्त किये हैं, जिसने सोम आदि औषधियां बनायीं, उस श्रेष्ठ ब्रह्म के लिये मेरा प्रणाम है।**

स्कम्भने सब लोग व्याप्त किये हैं। यह व्याप्त करना मिट्टी घडे में व्याप्त होने के समान है, क्योंकि सब विश्वरूप परमेश्वर का ही रूप है और उस की सर्वव्यापकता भी ऐसी ही घडे में मिट्टी के समान है। इसने सोम आदि औषधियां अन्न के लिये बनायीं हैं, जिन का भक्षण सब प्राणी करते हैं।

स्कम्भ और इन्द्र एक है।

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्। स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षं इन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥२९॥ इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम्। इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥३०॥

'(**स्कम्भे**) सब के आधारस्तम्भ प्रभु में सब लोक, तप, और ऋत समाये हैं, सर्वाधार प्रभु में यह सब समाया है। यह स्तम्भ प्रत्यक्ष दीखनेवाला प्रभु है स्कम्भ और इन्द्र एक ही सत्तत्व को बतानेवाले दो पद हैं। अतः इन्द्र में सब लोक, और ऋत समाया है। सब कुछ इस इन्द्र में समाया है। यह इन्द्र प्रत्यक्ष दीखनेवाला प्रभु है।'

यहां बताया है कि, इन्द्र और स्कम्भ एक ही के दो नाम हैं। इसी तरह अन्यान्य देवताओं के नाम भी इसी एक तत्त्व के हैं, यह जानना चाहिये। 'एक ही सत् है, कवि उसी एक का वर्णन अनेक प्रकारों से करते हैं, (ऋ. १।१६४।४६) इसी बात को यहां इस तरह दुहराया है।

गुह्य प्रजापति।

यो वेतसं हिरण्ययं सलिले तिष्ठन्तं वेद।
स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥ ४१ ॥

'(**यः**) जो (**सलिले तिष्ठन्तं**) जल में रहनेवाला (**हिरण्ययं वेतसं वेद**) सुवर्ण का बेत जानता है, निश्चय से वह (**गुह्यः प्रजापतिः**) गुह्य प्रजापति है।'

सुवर्ण जैसा चमकीला, अग्नि के समान जलता हुआ, और जलस्थान में रहनेवाला तेज 'विद्युत्' ही है। यह विद्युत् जब चमकती है, तब वह बेंत के समान, जलते हुए सुवर्ण के बेंत के समान टेढीमेढी दीखती है। '**हिरण्यवेतस**' का वर्णन करनेवाला एक मंत्र ऋग्वेद में मिलता है--

एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्रात् शतव्रजा रिपुणा न अवचक्षे। घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये आसाम् ॥ (ऋ. ४-५८-५)

' (हृद्यात् समुद्रात्) मनोहर अन्तरिक्षसे (शतव्रजाः) सैकडों समूहोंद्वारा, शत्रु को न दीखते हुए, (अर्षन्ति) नीचे गिरनेवाली ये (घृतस्य धाराः अभिचाकशीमि) जलधाराएं मैं देख रहा हूँ, (आसां मध्ये) इनके मध्य में (हिरण्ययः वेतसः) सुवर्ण के समान चमकनेवाला एक बेंत है। ' अर्थात् वृष्टि करनेवाले मेघों में चमकनेवाली यह विद्युत् ही है। प्रजापति परमेश्वर का यह गुप्त रूप है। यह कभी प्रकट होता है, कभी नहीं। विद्युत् सर्वत्र है, परन्तु वह कभी चमकती है, कभी नहीं। सदा यह गुप्त ही रहती है।

सर्वत्र चञ्चलता क्यों है ?

कथं वातो नेलयति ? कथं न रमते मनः ? किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चनः ॥३७

' (वातः कथं न इलयति) वायु क्यों नहीं स्तब्ध रहता ? (मनः कथं न रमते) मन क्यों एक स्थान पर नहीं रमता, नहीं स्थिर रहता ? (सत्यं प्रेप्सन्तीः आपः) सत्य की प्राप्ति की इच्छा करनेवाले जलप्रवाह (किं न कदाचन इलयन्ति) क्यों कभी ठहरते नहीं ? '

इस संसार के सभी पदार्थ गतिमान क्यों हैं ? ये स्थिर क्यों नहीं ? इस का उत्तर यह है कि, संसार में जड और चेतन, क्षर और अक्षर, प्रकृति और पुरुष ये एक ही सद्वस्तु के दो भाव हैं। यहां केवल जड और केवल चेतन ऐसे अलग अलग और सर्वथा पृथक् ऐसी दो वस्तुएं नहीं हैं। वस्तु एक ही है, 'एकं सत्' सत् एक ही है। उसी एक सत् का एक भास जड जैसा और दूसरा भास चेतन जैसा है, ये दोनों भास एक ही वस्तु के हैं। इसलिये चेतन सब को हिलाता रहता है, यह चैतन्य सर्वत्र भरा है। गति और स्थिति एक वस्तु के ही दो भाव हैं। इसलिये सब में गति दीखती है। जिस तरह रवा और मीठास ये मिश्री में दो भाव हैं, इसी तरह जडचेतन ये दो भाव विश्व में हैं। ये एक ही वस्तु में रहने से सब हिलता है और कोई वस्तु स्थिर नहीं है, ऐसा सर्वत्र प्रतीत होता है।

अज्ञाननिवारण और पापदूरीकरण।

अप तस्य हतं तमः, व्यावृत्तः स पाप्मना। सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥४०॥

' (तस्य तमः अपहतं) उस का अन्धकार या अज्ञान, दूर हुआ। (सः पाप्मना व्यावृत्तः) वह पाप से दूर हुआ। (तस्मिन्) उस में (सर्वाणि ज्योतींषि) सब ज्योतियां रहतीं हैं, (यानि) जो (त्रीणि प्रजापतौ) तीनों प्रजापति में रहतीं हैं। '

जब प्रजापति परमेश्वर में रहनेवालीं तीनों ज्योतियाँ, सूर्य, विद्युत् और अग्नि ये जैसी परमेश्वर में हैं, वैसी ही मनुष्य में हैं, यह ज्ञान प्रत्यक्ष रीति से मनुष्य को होता है, तब वह अपने आप को परमेश्वर में, परमेश्वर से अनन्य, अभिन्न, अपृथक् और अखण्डित जानता और समझता है, तब उस का अज्ञान और पाप दूर होता है। केवल तीन ज्योतियां ही नहीं, अपितु तैंतीस देवताएं भी जैसी परमेश्वर के विश्वव्यापक देहमें हैं, वैसी ही मनुष्य के देहमें हैं, जैसे तीनों लोक परमेश्वर में हैं, वैसे ही मनुष्य के देह में हैं, इस तरह समता देखता है, तब अपनी और पिता की वह एकता देखता और जानता है। विश्वरूपी परमात्मा के देह में वह अपने आप को एकरूप हुआ देखता है, तब यह अनन्य भाव इस का निज भाव है, यह उसको ज्ञान होता है। यह ज्ञान ही अन्तिम ज्ञान है, जो मनुष्य को अवश्य प्राप्तव्य ज्ञान है। मनुष्यजन्म की सार्थकता करनेवाला यह ज्ञान है।

कालके विषय में प्रश्न।

क्वार्धमासाः ? क्व यन्ति मासाः ? संवत्सरेण सह संविदानाः ? । यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः, स्कम्भं तं ब्रूहि, कतमः स्विदेव सः ? ॥ ५ ॥ क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने ? ॥ ६ ॥

पिप्पलादपाठ--

कतमदेवं अनुसंचरेते अहोरात्रे संविदाने समानम् ॥ १ ॥ (अ. पि. १७।७।२)

' (अर्धमासः) पक्ष, (मासाः)महिने, (ऋतवः)

ऋतु, (आर्तवाः) ऋतु से बननेवाले अयन, (संवत्सरेण सह संविदानाः) वर्ष के साथ संयुक्त होकर (क्व यन्ति) कहां जा रहे हैं ? (विरूपे युवती अहोरात्रे) परस्परविभिन्न रूपवाली दो युवतियां अर्थात् दिन की प्रभा और रात्री किस की इच्छा करती हुई (क्व द्रवतः) कहां जा रही हैं ? [विप्रलाद०] (कतमद् समानं अंगं अनुसंचरेते) किस समान अङ्ग का अनुसरण करनेवाले अहोरात्र कहां जा रहे हैं ? ये जहां जा रहे हैं, वही सब का एक आधारस्तंभ है, वही एक सब अन्योंको आधार देता है।'

यहां कालके संबंध में प्रश्न पूछे हैं। अद्वैतवाद समझनेके लिये काल का वर्णन सब से अच्छा है। काल एक ही है परन्तु उस के विभाग अनेक हैं। त्रुटि, पल, विपल, क्षण, घटी, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात्री, अहोरात्र, सप्ताह, पक्ष, महिना, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, कल्प आदि काल के भेद व्यवहार में हैं। ये हमारे व्यवहार के विषय हैं, परन्तु एक ही अखण्ड काल है, उस की एकता में कालके इतने अवयव होने से कोई बिघाड नहीं होता। काल अखण्ड है, पर हम व्यवहारमें खण्डयुक्त काल से, दिन, मास आदिसे, व्यवहार करते हैं। यह व्यवहार होता ही है, परन्तु इस व्यावहारिक कालखण्डों से मुख्य काल की एकतामें किसी तरह की बाधा नहीं आती।

इसी तरह विश्वव्यापक विश्वरूपी अखण्ड परमेश्वर सर्वत्र अखण्ड भरा है, उस के अवयवरूपी नाना पदार्थोंमें मानवादि प्राणियोंका व्यवहार हो रहा है। यह व्यवहार भेदमूलक तो है ही, परन्तु इस व्यवहार से उस की अखण्ड, अटूट और अनन्य एकता में कोई भेद नहीं आता।

पाठक इन दोनों की तुलना करके सत् एक ही है यह जानें और सदा इस एकत्व की जाग्रति रखें और इस जाग्रति में रहकर अपने सब व्यवहार करें।

सूत्र से कपडा बुनना।

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्। प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥ ४२ ॥

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न विजानामि यतरा परस्तात्। पुमानेनद्वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद्विजभाराधि नाके ॥ ४३ ॥

इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे ॥ ४४ ॥

' दो विभिन्न रंगरूपवाली स्त्रियाँ (षट्-मयूखं तंत्रं) छः खूंटियोंवाले खड्डीपर बार बार घूमकर (वयतः) कपडा बुनती हैं। (अन्या तंतून् प्र तिरते) उन में से एक धागों को अलग अलग करती है, और (अन्या धत्ते) दूसरी धागे को स्थानपर ठीक तरह रखती जाती है। वे दोनों स्त्रियाँ (न अप वृञ्जाते) धागों को तोडती नहीं, और (अन्तं न गमातः) अपने कार्य को समाप्त भी नहीं करती। (तयोः परिनृत्यन्त्योः इव) इन नाचनेवाली जैसी दोनों स्त्रियों में पहिली कौन और पिछली कौन, इस का भी (न विजानामि) पता मुझे नहीं लगता। वहां (पुमान् एतद् वयति) एक पुरुष कपडा बुनता है, (उद्गृणत्ति) वह धागों को यथास्थान जमा देता है और (अधिनाके एतत् विजभार) स्वर्ग तक इस वस्त्र को फैलाता है। (इमे मयूखाः) ये खूँटियां हैं, (दिवं उपतस्तभुः) द्युलोक तक ये स्थिर हो गयी हैं। इन्होंने सामों को बाने के लिये धडकियाँ बना दी हैं।'

वस्त्र की उपमा।

यहां सब विश्वको वस्त्र की उपमा दी है। यहां की दो स्त्रियां (१) दिनप्रभा (गोरी स्त्री) और (२) रात्री (काली स्त्री) है, गोरी और काली ये दो स्त्रियां पुराणोंमें सुप्रसिद्ध हैं। छः खूटियोंवाली खुड्डी छः ऋतुओं के साथ संवत्सर है। यहां का पुरुष सूर्य है, इसी को काल कहते हैं। ये वर्ष का कपडा बुनते हैं, इस तरह अखण्ड काल के धागे से यह कपडा बुनने का कार्य चल रहा है। दिनप्रभा और रात्री में कौन पहिली और कौन पीछे से आयी; इस का पता लगनेवाला नहीं है। दिन और रात में आगेपीछे कौन है ?

यह एक काल का कपडा है, जीवन का वस्त्र है, विश्वरूप वस्त्र है। यह बनाया या बुना जा रहा है। ताने के और बाने के धागे यथास्थान बुने जा रहे हैं। यह वस्त्र कभी समाप्त नहीं होगा। समाप्त होनेका अर्थ ही प्रलय है।

वस्त्र में जैसा कपास एक ही तत्त्व है, तानेबाने के



(पृ० २३३ पर देखो) दो स्त्रियां कपड़ा बुन रहीं थीं ।

रूप में भी कपास ही है, एक ही कपास वस्त्र के रूप में बनकर नाना प्रकार के कपड़ों के रूपों में बनता है, पर वह सब कपास ही कपास है। इसी तरह एक काल पल-विपल-घटी, दिन-सप्ताह-मास आदिरूप धारण करके सब व्यवहार चलाता है, पर सब एक ही काल है। इसी तरह सब विश्व के नाना पदार्थ एक ही ब्रह्म के रूप हैं, ये सब पदार्थ एक ही ब्रह्म के रूप हैं। वस्त्र की उपमासे यहां सदैक्यवाद के स्वरूप को अच्छी तरह समझाया है। पाठक इस का विचार करेंगे, तो उन के ध्यान में यह सदैक्यवाद इस उपमा से आ सकेगा। वेदने इस उपमासे सदैक्य-वाद को अति स्पष्ट किया है।

उपासना-नामजप।

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः।
यदजः प्रथमं सं बभूव, स ह तत्स्वराज्यं इयाय,
यस्मान्नान्यत् परम् अस्ति भूतम् ॥३१॥

पिप्पलादपाठ–

स ह तत्स्वराज्यं जगाम यस्मान्न परं अस्तु भूतम्।

'उषा के पूर्व और सूर्योदय होने के भी पहिले नामसे नाम का जप करता है। जो यह अजन्मा सबसे प्रथम संगठित हुआ, वही स्वराज्य को प्राप्त कर सका, जिस से दूसरा कोई भी अधिक श्रेष्ठ नहीं है।'

उषःकाल के पूर्व एक ही देवता का नामजप करना, इस देवता के संगठन के स्वरूप को पहचानना, अर्थात् एक ही ब्रह्म सब विश्वरूप में नटकर कैसा सुसंघटित हुआ है, यह याथातथ्यसे जानना, यह सच्चे और श्रेष्ठ स्वराज्य पानेका तत्त्वज्ञान है। इसका आशय यह है कि, इस समय संपूर्ण विश्व में विशेषतः मानवों के अन्दर सच्चा स्वराज्य नहीं है, जो सदैक्यतत्त्वज्ञान से सिद्ध होनेवाला है, क्योंकि इस तत्त्वज्ञान का मानवी व्यवहार में अब तक उदय भी नहीं हुआ है।

इस कारण सर्वत्र दुःख, दैन्य, क्लेश, और परस्पर स्पर्धा बढ रही है और विपत्ती ही बढ रही है। जिस समय सदैक्यवाद का तत्त्वज्ञान मानवी व्यवहार में उतरेगा, उस समय सब संसार, वस्त्र में कपास के समान, एक ही ब्रह्म का स्वरूप है, यह जनता जानेगी और सब लोग विश्व-रूपी परमात्मा की स्वकर्म से सेवा करने में लग जायेंगे। तब स्वर्गीय सुख इस भूमण्डल पर सब को प्राप्त होगा। उस समय राजा, प्रजा, मालिक, मजदूर, श्रीमान्, दरिद्री, शिक्षित अशिक्षित, की सब समस्याएं दूर होंगी। सब मानव अनन्यभाव से विश्वरूपी ईश्वर की सेवा करने में दत्तचित्त होंगे। राजा, प्रजा, मालिक मजदूर, गुरुशिष्य, स्त्रीपुरुष ये सब कपडे के तानेबाने के समान हैं, ये परस्पर-सहायक ही रहने चाहिये। यही जीवन का रहस्य है। सदैक्यवाद से ही यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है। सदैक्य-वाद से द्वन्द्व का विरोधी भाव हट जाता है और परस्पर सहायता का भाव प्रकट होता है। इस परस्पर-सेवा के भाव से जो परिशुद्ध व्यवहार होगा, वही सच्चा स्वराज्य है, जिस से अधिक श्रेष्ठ कोई शासनव्यवस्था नहीं है। इस में प्रत्येक मानव अपना ही शासक है और विश्वरूपी ईश्वर की सेवा करने के लिये वह आत्मार्पण करता है, यही अपने जीवन की सार्थकता करने का साधन है, ऐसा वह मानता है। सदैक्यवाद व्यवहार में आने से यही सिद्धि होती है।

पिप्पलादपाठ–

न प्रजापतिमभ्येति परमेष्ठिनौ उतैत तत्र नो
ब्रूत यज्ज्येष्ठंपदो न्ययत् ॥
अस्ति वै तत्परो भूमेरस्ति वै तत्परो दिवः।
लोका वै तस्मिन् संप्रोतास्तस्मिन् होताः प्रजाः
इमाः ॥४॥　　　(अ. पि. १७।११)

'प्रजापति से परे कुछ भी नहीं है। जो श्रेष्ठ पद है, वह यही है। इसी का वर्णन करो। (परमेष्ठिनौ) समष्टि और परमेष्ठी ये सब इसी में हैं। यही भूमि से परे और द्युलोक से भी श्रेष्ठ है। जैसे वस्त्र में ताने और बाने के धागे होते हैं, उस प्रकार (लोकाः) सब लोक ये सब प्रजाएं (तस्मिन्) उस में (संप्रोताः ऊताः) ताने-बाने के रूप में रही हैं।' अर्थात् उस से बाहर कुछ भी नहीं है।

अपनेसमेत सब प्रजाजन उस प्रभु में तानेबाने के रूप रहते हैं, यह श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान है। यही उपदेश इस सूक्त में किया गया है। कपास प्रभु का रूप समझिये, तानेबाने के धागे सब लोकलोकान्तर, सब सृष्टि और सब प्राणी

हैं। मानवप्राणी भी ये ही धागे हैं। यदि यह वेद का सत्य ज्ञान है, तब, तो यह ज्ञान शीघ्र ही मानवों को जानना चाहिये। जिस तरह सब धागे कपासस्वरूप हैं, उसी तरह सब मानव ब्रह्मस्वरूप हैं। अपना यह स्वरूप जानकर सब को उचित है कि, वे तानेबाने के रूप में परस्पर सहायक बनकर सब की सेवाद्वारा सब का आनन्द बढावें।

यहां परस्पर ईर्ष्या द्वेष का कोई कार्य नहीं है। यहां परस्पर की सेवा स्वकर्म से करनी चाहियें। यहां अपने ऊपर अपना ही शासन होना है, यही सच्चा 'स्व-राज्य' है, जिस का वर्णन इस सूक्त के ३१ वें मंत्र में हुआ है। सदैक्यवाद से ही यह स्वराज्य सिद्ध होनेवाला है।

पाठक इस सूक्त का मनन करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, सब तैंतीस देवताएं इस विश्व में हैं और वे ईश्वर के देह में हैं। इस ईश्वर के देह में मानवप्राणी भी हैं। ये सब विश्वरूपी कपडे के ताने और बाने के समान हैं। परमेश्वर विश्वरूप है, इसलिये उपासक भी इस विश्वरूप में होने से परमेश्वर का अंश है। यह जानकर अपने प्रयत्न से विश्व रूप ईश्वर की सेवा करने का अनुष्ठान पाठक करें और कृतकृत्य बनें।

संपूर्ण विश्व की सेवा, तो किसी से होगी नहीं, सेवा तो विश्व के किसी एक अंश की ही होगी, परन्तु जिस की सेवा करनी हो, वह अखण्ड विश्व का भाग है, इस अनन्य भाव से सेवा करने से ही वह अखण्ड विश्वसेवा होती है। विश्वसेवा की यही रीति है। आशा है कि, सब पाठक इस को समझेंगे और आचरण में लाने का यत्न करेंगे।

ऋग्वेदमें शुद्ध पाठ 'देवकामा' ही है।

(संपादकीय टिप्पणी)

ऋग्वेदमें 'देवृकामा' पद नहीं है, परंतु '**देवकामा**' है, इस विषयमें इस समयतक अनेक युक्तियाँ और प्रमाण वैदिकधर्म में दिये गये है। जो पद ऋग्वेदमें है ही नहीं, उसको वहां मानना, और ऐसे भ्रष्ट प्रमाण से विवाह की मंगल विधिमें भी '**वधुवर से नियोगकी प्रतिज्ञा करवाना**' एक अत्यंत निंदनीय कार्य है। हमने अपनी ओर से जितना शास्त्रदृष्टिसे प्रयत्न किया जा सकता है, उतना किया, और इस घोर पाप से विवाह करनेवाली जनताको बचानेका यत्न किया। परंतु आर्यसमाजके पण्डित, सांप्रदायिक ईर्ष्याद्वेष से मोहित होकर, अशुद्ध मुद्रितको ही शुद्ध साबित करनेका यत्न कर रहे है !!! इन संप्रदायमोहित पण्डितों का बहुमत श्रीमती सार्वदेशिकार्य प्र० सभामें है, इसलिये उक्त सभाद्वारा निर्धारित धर्मार्थसभा की अन्तरंगसभा के ता. १५-१०-४२ के अधिवेशनमें निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया है, जो श्री. मंत्रीजी की कृपा से हमारे पास आया है। यह प्रस्ताव ऐसा है-

(श्रीमती सार्वदेशिक आ० प्र० सभा देहली की धर्मार्थसभा का स्वीकृत प्रस्ताव।)

विषय

(क) ऋग्वेद १०।८५।४४ मे शुद्ध पाठ '**देवकामा**' है या 'देवृकामा' है ?

(ख) अथर्ववेद १४।२।१७-१८ इन दो मंत्रों मे शुद्ध पाठ '**देवकामा**' है या 'देवृकामा' है ?

यह विषय सभा के सामने प्रस्तुत होकर श्री मंत्रीजीने देवकामा-देवृकामाविषयक वादविवाद के दोनों पक्षोंके प्रमाणों को सदस्यों के सन्मुख प्रस्तुत करते हुए बताया कि, **वर्तमान समयमें ऋग्वेद के जो मुद्रित संस्करण उपलब्ध होते हैं उनमें**, वैदिक यंत्रालय अजमेरमें छपे ऋग्वेद को छोडकर, **'अघोरचक्षुरपतिघ्नी' इस (ऋ० १०।८५।४४ के) मंत्रमें 'वीरसूर्देवकामा स्योना' यह पाठ ही पाया जाता है।** परंतु ऋषि दयानन्दने संस्कारविधिके विवाहप्रकरणमें इस मंत्रको दो जगह उद्धृत किया है और वहां इसका पाठ 'देवृकामा' दिया है और उसीके अनुसार अर्थ किया है, जिसे श्री. पं० सातवलेकरजी आदि ठीक नहीं मानते। वे इसे वैदिक यंत्रालयवालोंकी भूल सिद्ध करनेका यत्न करते है। किंतु संस्कारविधि प्रथम संस्करण को देखनेसे जो ऋषि दयानन्द के जीवनकालमें सन १८७७ में एशियाटिक प्रेस बंबईमें छपा था, विवाहप्रकरणमें पृष्ठ ८४ और ९१ पर यह मंत्र ऋग्वेद तथा पारस्कर गृह्यसूत्र से और पृ० ९३ पर अथर्ववेद १४।२।१७-१८ से इसके साथ मिलताजुलता पर पृथक् मन्त्र उद्धृत है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि, ऋषि दयानन्द के विचारमें ऋग्वेदका १०।८५।४४ में शुद्ध पाठ 'देवृकामा' है न कि '**देवकामा**' यहांतक कि पृ० ९१ * पर जब छापेकी भूल से ऋग्वेदका पाठ 'वीरसूर्देवकामा स्योना' छप गया, तो संस्कारविधि प्रथम संस्करण के शुद्धिपत्र में उन्होंने पृष्ठ ५ पर उस ९१ पृष्ठका उल्लेख करते हुए लिखा—

पृ० ९१ पं. ९४ देवका देवृका

यह ठीक है कि '**वैदिक यंत्रालय अजमेरके ऋग्वेद-संहिताके संस्करण को छोडकर अन्य किसी संस्करणमें, जो अब उपलब्ध होते हैं, ऋग्वेदके इस मंत्रमें 'देवृकामा' पाठ नहीं पाया जाता।** परंतु कई पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों तथा संस्करणोंमे पहले यह पाठ पाया जाता था, इसके कई प्रबल प्रमाण दृष्टिगोचर होते है।

उदाहरणार्थ स. १८९१ में "सेंट पीटर्सबर्ग कोशमे, जो आटो बोथलिंग और रोडल्फ रॉथ नामक विद्वानोंने संपादित किया, उसके पृ. ७६६ पर 'देवृकामा' शब्दका पता ऋ० १०।८५।४४ और अथर्व० १४।२।१८ दिया है। यह युरोपमें

* पृ० ८४ का पाठ '**देवकामा**' है, यह क्यों नहीं दुरुस्त किया? क्या इसका अर्थ नियोगपरक ही यहां है ? (**संपादक**)

सबसे प्राचीन कोश है । इसमें यह स्पष्टतया प्रमाणित होता है कि, उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण कोश बनानेके समयमें ऋग्वेदका देवृकामा पाठ लिखित वा मुद्रित संस्करणोंमें ऋ. १०।८५।४४ पर अवश्य रहा होगा।×

यह संस्कृत कोश पुराना होनेके कारण अमाननीय है, यह श्री. पं० सातवलेकरजी आदि का कथन ठीक नहीं, सबसे प्राचीन होनेके कारण उसका महत्त्व बढता है, घटता नहीं।

(२) स. १९१२ में प्रो० मेकडोनेल और प्रो० कीथ ने लंदनमें ' वैदिक इंडेक्स ' छापा। इसके पृ० ७७८-७७९ पर ' देवृकामा ' शब्दपर टिप्पणी है और देवृकामा शब्दका पता ऋ. १०।८५।४४ और अथर्व० १४।२।१८ दिया है। इससे स्पष्ट है कि १९१२ में प्रो० मेकडोनेल और कीथ के सामने ऋग्वेदके संस्करणमें ' देवृकामा ' यह पाठ अवश्य था।×

(३) व्हिटनीकृत अथर्ववेद के अंग्रेजी अनुवादकी भूमिकामें भी ऋग्वेदमें पाठ देवृकामा होनेका संकेत किया गया है।

(ख) अथर्व. के १४।२।१७-१८ में पाठ देवृकामा है, इसके प्रमाण तो अत्यधिक हैं। ··· ··· (यहां अथर्वप्रमाण दिये हैं) ··· ···

इस सबके विचारविनिमय के पश्चात् सर्व संमतिसे निर्णय हुआ कि ऋषि दयानन्दसंमत पाठ ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनोंमें देवृकामा ही है। जिसकी पुष्टिमें अनेक प्रबल प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

किन्तु इसविषयक अन्तिम निर्णय देनेके पूर्व अभी ऋग्वेदके हस्तलिखित और मुद्रित प्राचीन संस्करणोंकी अधिक खोज करनी चाहिए।

··· ··· ··· ··· ··· ···

मंत्री

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली

(संपादकीय वक्तव्य)

यह प्रस्ताव श्री. सार्वदेशिक आ. प्र. सभा देहली की धर्मार्यसभाकी अन्तरंग-सभाने किया है। यह प्रस्ताव उक्त सभामें सर्व संमतिसे स्वीकृत हुआ। हमारे विचार से यह प्रस्ताव जिन्होंने स्वीकृत किया, उनकी ही **' स्थायी निन्दा करनेवाला '** प्रस्ताव है, क्योंकि इस प्रस्तावके शब्दों से यह सिद्ध हो रहा है कि, जो लोग इस सभामें उपस्थित थे, उनको ऋग्वेद का पाठ ' देवकामा ' है या ' देवृकामा ' इस संबंध का कोई ज्ञान नहीं है और आज जो साधन प्राप्त हैं, उनका उपयोग करके उक्त विषयका निर्णय करनेकी निर्णायक बुद्धि भी उनमेंसे किसीमें नहीं है। धर्मार्यसभाके सदस्य तो ऐसेही अवश्य होने चाहिये कि, जो कमसे कम ऋग्वेदके पाठ के विषय में तो उनमें अनिश्चयकी बुद्धि नहीं रहनी चाहिये। अस्तु इस प्रस्ताव में निम्नलिखित बातें स्वीकृत हो चुकी है—

(१) वर्तमान समयमें उपलब्ध होनेवाले ऋग्वेदके समस्त संस्करणों में ' देवृकामा ' पद नहीं है, परन्तु सबमें ' देवकामा ' ही पद है।

(२) केवल अजमेर के वैदिक यंत्रालयमें छपे ऋग्वेदमेंही ' देवृकामा ' पद है। यह पं० सातवलेकर आदि ठीक नहीं मानते। वे यह भूल वैदिक यंत्रालयवालों की है, ऐसा सिद्ध करते है।

(३) परन्तु यह भूल वैदिक यंत्रालयवालों की नहीं है, क्योंकि ऋषि दयानन्द के जीवनमें छपे संस्कारविधि के शुद्धिपत्र में ' देवृकामा ' पद दिया है।

(४) सेंटपीटर्सबर्ग कोश, तथा वैदिक इन्डेक्स ये युरोपमुद्रित ग्रंथोंमें ऋग्वेदका पाठ ' देवृकामा ' दिया है, इसलिये उनके पास इस विषयके प्रमाण अवश्य होंगे।×

(५) अथर्ववेदमें ' देवृकामा ' पाठ मिलता है।

(६) इसलिये ऋषि दयानन्द का स्वीकृत पाठ ऋग्वेदमें ' देवृकामा ' है।

(७) परन्तु अन्तिम निर्णयके लिये ऋग्वेद के हस्तलिखित और मुद्रित ग्रन्थों की अधिक खोज करनी चाहिये।

उक्त प्रस्ताव में ये सात बातें हैं। इसमें पहिला कथन अत्यंत महत्त्वका है। इस समय उपलब्ध होनेवाले प्राचीन, अर्वाचीन ऋग्वेदके संस्करणोंमें से किसी में ' देवृकामा ' पद नहीं है और सबमें ' देवकामा ' ही पद है। केवल अजमेर के

× इसके लिए क्या प्रमाण है ? प्रमाण के विना किये इस विधान का क्या मूल्य है ? (**संपादक**)

वैदिक यंत्रालयमुद्रित ऋग्वेदमें ही 'देवृकामा' पद है। यही हमारा कहना है। हमारा कथन इस तरह इस प्रस्ताव में स्वीकार किया है। इस समयतक जितने भी ऋग्वेदके प्राचीन, अर्वाचीन हस्तलिखित, मूल अथवा भाष्ययुक्त ग्रंथ उपलब्ध हैं, अथवा छपे ग्रंथ हैं, उन सबमें **'देवकामा'** पद मिलता है, वेदपाठी उसको प्रमाणित करते हैं, ब्राह्मण और गृह्यसूत्रोंने उसीको माना है, इसलिये वही मानना चाहिये, यही तो हमारा कथन था। वह अबतक वैसाही अखंडित रहा है।

अन्तिम सातवें परिच्छेदमें अधिक खोज करनेकी बात लिखी है, इसलिये उक्त प्रस्ताव करनेवाली सभा के मन में देवृकामा के विषय मे अभीतक कुछ भी निश्चय नहीं हुआ, यही सिद्ध होता है। भविष्य में वे सदस्य निर्णय करते रहें।

पंचम परिच्छेदमें अथर्ववेदके पाठ के विषय में लिखा है। वह भी अपरीक्षितही है। क्योंकि पिप्पलाद-संहिता अथर्ववेद की एक संहिता है, जिसमें दो मंत्र है, एकमें **'देवकामा'** पद है और दूसरे मंत्र में **'देवृकामा'** है। अथर्ववेदकी शौनक-संहिता में लिखित ग्रंथोंमें दोनों प्रकार के पाठ मिलते हैं। यद्यपि मुंबईमुद्रित ग्रंथ में दोनों स्थान में 'देवृकामा' पद छपा है। तथापि यहां प्रश्न अथर्ववेदके पाठ का नहीं है, अतः हम इस विषय में कुछ भी अधिक लिखना नहीं चाहते।

अथर्वमंत्र और ऋग्वेदमंत्र एक नहीं हैं और आर्यसमाज की प्रचलित **संस्कारविधिमें जो मंत्र लिया है, वह ऋग्वेदकाही मंत्र निःसंदेह है.** वह अथर्ववेदका मंत्र नहीं है। इसलिये विवाद्य विषय ऋग्वेदका पाठ **'देवकामा'** है या 'देवृकामा' है। इसमें अथर्वपाठ कौनसा है, इसका संबंधही नहीं है। अथर्ववेदकी पिप्पलादसंहिता पतंजलि ऋषि की मानी है और उसमें जो मंत्र ऋग्वेद के मंत्रके करीब करीब समान है, उसमें निःसंदेह पाठ 'देवकामा' ही है। तथापि विवाद्य विषय अथर्व का नहीं, वह ऋग्वेद का है। इसलिये हम यह विषय यहीं छोडते हैं।

अजमेर वै० यंत्रालय में मुद्रित ऋग्वेदमें तथा संस्कार-विधि में ऋग्वेदका मंत्रही दिया है और उसमें 'देवृकामा' ऐसा गलत अशुद्ध पद छापा है, यह निंदनीय अशुद्धि है। हमारे मतसे यह अशुद्धि वै० यंत्रालयवाले पंडितोंकी है। यदि यह अशुद्धि श्री स्वामिजीकी है, ऐसा श्री सार्वदेशिक आ० प्र० सभा का मत है, तो उस विषय में हमें कुछ भी अधिक कहना नहीं है।

युरोपमुद्रित उक्त कोशों के उक्त पाठविषयक लेखका तिरस्कार संपूर्ण युरोपीयन वेदज्ञोंने किया है, और अब युरोपमें भी ऋग्वेदका पाठ 'देवकामा' ही है, इस विषय मे किसीको संदेह नहीं है, अतः मोक्षमुलर के सभी संस्करणों में तथा जर्मनमुद्रित ऋग्वेदमें **'देवकामा'** ही शुद्ध पाठ माना है। जो कोशग्रंथ युरोपमें पूर्णतया अप्रमाणित हो चुके, उनके प्रामाण्य की स्वीकृति भारतवर्ष की 'सार्व० आर्य० प्र० सभा' करने लगी और उस तिरस्कृत कोशग्रंथों के आधारपर वै० यंत्रालय के अशुद्ध पाठको स्वीकाराई मानने लगी। यह यदि इस सभाको भूषण मालूम होता हो, तो उस विषयमें हमें अधिक कुछ भी लिखना नहीं है।

हमें जो दुःख होता है, वह इस बातका है कि ऐसे लेखों से उनकेही आचार्य का नाम कलंकित हो रहा है, संप्रदायमोहित सभासद इस समय इस बातको नहीं जानते हैं, परन्तु श्री० स्वामिजी के यश का संरक्षण करनेवाले ये ही उनका स्थायी अयश होनेयोग्य प्रमाद कर रहे है। उनकी इच्छा हो तो वे इसका पुनः विचार करें, न हो तो वे न करें।

श्री स्वामिजीने प्रथम (और द्वितीय) संस्कारविधि मे पृ० ८४ पर **'देवकामा'** ही पाठ माना और अर्थ भी नियोग-रहित किया था। दोनों संस्कारविधिओं मे यह अब भी देखा जा सकता है। इतनाही नहीं, परन्तु प्रथम वार मुद्रित संस्कार-विधिमें नियोगपरक जितने मंत्र थे, उन सबको द्वितीय वार की संस्कारविधि से पूर्णतया हटाया था। तृतीय वार की संस्कार-विधि अजमेर में छपी उसमें नियोगपरक अर्थ को स्थायी बनाया और यह श्री स्वामिजी के मरणोत्तर हुआ है।

इस विषय में श्री पं० रामकौशिकजी का लेख हम यहां देते है। पाठक इस लेख का विचार करें। इससे सब बातें स्पष्ट हो जाती है।

हमारा अन्त में कहना इतनाही है कि,

(१) ऋग्वेदमें **'देवृकामा'** पद नहीं है, वहां 'देवकामा' हीं पद है और उसका अर्थ 'ईश्वरकी भक्ति करनेवाली' है। नियोगपरक अर्थ यहां नहीं है।

(२) विवाहविधि में नियोग का उल्लेख होना नहीं

चाहिये । विवाहकाल 'संपत्काल' है, उस समय आपत्काल का उच्चार करना अनुचित और शास्त्रगर्हित है। (देखो मनु०)

(३) विवाह के समय नियोग की प्रतिज्ञा का उल्लेख करना भी अनुचित है, शास्त्रद्वारा निषिद्ध भी है।

(४) संस्कारविधि में ये अनुचित बातें पंडितों की असावधानी से प्रविष्ट हैं। उनको दूर करना चाहिये। अनुचित और शास्त्रगर्हित बातको येन केन प्रकार से समर्थनपूर्वक रखना विचारवानों के लिये अयोग्य है।

इतना होनेपर भी संप्रदायमोहित लोग अशुद्धियों को शुद्ध मानेंगे और अपने पुत्रपुत्रियों के विवाहमंगल-विधिमें नियोग का अमंगल उच्चार करने के लिये तुलेंगे, तो वे वैसा करें। क्योंकि हमने यह विषय यहां समाप्त किया है।

"ऋग्वेदमें देवकामा या देवृकामा का विवेचन।"

(लेखक —श्री पं० राम कौशिक, ऋषिकेश)

संस्कारविधिके विवाहप्रकरण का '**देवकामा** तथा **देवृकामा**' पद एक महत्वपूर्ण विषय है, क्योंकि वैदिक विवाह-संस्कारोमें इसकी प्रायः आवश्यकता पडती ही रहती है। कार्यकर्ताओंको कहीं-कहीं संस्कारविधिके विवाहप्रकरणमें आया हुआ '**अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि**' वाला मंत्र छोडनाही पडता है या स्वयं उच्चारणमात्र करके मौन रह जाना ही पडता है, तथा कहीं कहीं संस्कारविधिके '**नियोगपरक** अर्थों के विपरीत अर्थ करना पडता है। **विवाहसंस्कार जैसे शुभावसर पर नियोगपरक अर्थ न तो उपस्थित जनताही सुनना पसन्द करती है और न कार्यकर्ताही उपर्युक्त अर्थ का करना उचित समझते हैं**, इसी कारण यह नियोगपरक अर्थ सभी के दिलोंमें खटकतेही रहते हैं। समस्त आर्य सामाजिक पुरुष प्रायः यही चाहते हैं कि, विवाह-पद्धति से यह नियोगकी प्रतिज्ञा हट जाए तो उत्तम है। विवाहसंस्कार करनेवाले पंडितों को तो उस समय बडा ही संकोच होता है, इसलिए अन्तमें उन्हें विवश होकर 'येन केन प्रकारेण' इसे टालनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता।

उपरोक्त कठिनाइयों को दूर करने के लिए यदि इसका कुछ न कुछ परस्पर निर्णय हो जाता, तो समस्त आर्य-समाजों के लिए एक प्रकार से हितकर ही था। परन्तु सार्वदेशिक सभा तथा आर्यप्रतिनिधि सभा एवं आर्यप्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की विद्वान् मण्डलीने उपर्युक्त गम्भीर विषयपर अभीतक कुछ ध्यानही नहीं दिया। पूर्व एक बार सन १९३८ में भी 'देवकामा-देवृकामा' विषयपर वाद-विवाद उठा था, परन्तु उस समय भी कुछ निर्णय न हो सका।

पुनः इसका सूत्र-पात कैसे हुआ ?

निजाम हैदराबाद आर्यसमाजमें श्री. पं० सातवलेकरजी की श्री० पं० बुद्धदेवजी मीरपुरी से उपर्युक्त विषयपर चर्चा चली थी, इस कारण श्री. पं० सातवलेकरजीने मास नवम्बर १९४१ ई० के वैदिकधर्ममें ऋग्वेदका पद '**देवकामा**' है अथवा 'देवृकामा' ? लेखद्वारा अपने स्पष्ट विचार जनताके समक्ष प्रकट किए थे और इसकी सैंकडों प्रतियाँ अलग भी छापकर समस्त आर्य सामाजिक संस्थाओं के पास इस अभिप्राय से भेजी थीं कि प्रत्येक विद्वान उक्त विषयपर अपने विचार लिख भेजें, ताकि जनताके अवलोकनार्थ वे सबके सब लेख '**वैदिकधर्म**' में प्रकाशित कर दिए जाएं। श्री. पं० बुद्धदेवजी ऋग्वेदमें '**देवृकामा**' का समर्थन करना चाहते थे, तथा श्री. पं० सातवलेकरजीका पक्ष था कि- सम्पूर्ण ऋग्वेदमें किसी भी स्थलपर 'देवृकामा' पाठ नहीं है, बल्कि शुद्धपाठ '**देवकामा**' ही है, कि जिसे समस्त वेदज्ञ विद्वान मानते आए हैं, और इस समयभी मान रहे हैं।

किन्तु खेद है कि, श्री पं० बुद्धदेवजीने किसी प्रकार के लेखद्वारा अपने पक्ष 'देवृकामा' का समर्थन आजतक नहीं किया। श्री पं० सातवलेकरजीके लेख में श्री पं० जयदेवजी अजमेरवालोंकी ओरभी संकेत था, परन्तु आश्चर्य है कि, उक्त पंडितजीने भी अपनी ओरसे किसी लेखद्वारा कोई समाधान

नहीं किया, अस्तु।

पं० प्रियरत्नजी आर्षका लिखा हुआ "ऋग्वेदमें देवृकामा वा देवकामा का विवेचन" नामक एक ट्रेक्ट सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा देहली ने प्रकाशित किया है। इससे यह स्पष्ट पता तो नहीं चलता कि, सार्वदेशिक सभाने इस ट्रेक्ट को केवल प्रकाशित ही किया है, अथवा वह उसके विचारों से भी सहमत है।

आर्षजीने इस ट्रेक्टमें मास नवम्बर सन १९४१ के वैदिक-धर्ममें छपे हुए लेख '**ऋग्वेदका पद देवकामा है, अथवा देवृकामा**' के उत्तर देनेका प्रयत्न किया है। इस स्थल-पर आर्षजीने जिन-जिन पक्षोंका समर्थन किया है तथा साथ ही जो जो आक्षेप किए हैं, वे निम्न प्रकार हैं। :

पं० प्रियरत्नजीका पक्ष.

१ ऋग्वेदमें '**देवकामा**' पाठ का होना और उसका अर्थ 'ईश्वरकी कामना करनेवाली'- करना प्रसंग से बाहर है।

२ ऋग्वेदका शुद्ध पाठ 'देवृकामा' है, 'देवकामा' अशुद्ध है।

३ विवाह के अवसरपर नियोगकी चर्चा करना अमंगल नहीं है।

४ संस्कारविधिके विवाहप्रकरणमें ऋग्वेदके, '**अघोरचक्षुः**' मंत्रमें 'देवृकामा' पाठ होना और उसका नियोगपरक अर्थ करना, वैदिक यंत्रालय अजमेरके पंडितोंका काम नहीं है, अपितु उक्त प्रकार का दोष पंडितों के सिर मढना बिल्कुल गलत है।

५ स्वामिजीने जानबूझकर संस्कारविधिमें 'देवृकामा' ही पाठ रखा है।

६ स्वामिजी अमंगल शकुनोंकी प्रथाको नहीं मानते थे।

७ विवाह नए मैरेज एक्ट तथा अथर्ववेद से भी हो सकता है।

८ ऋग्वेदमें भी अथर्ववेदकी भाँति 'देवृकामा' ही पाठ था।

९ सेन्टपीटर्सबर्ग डिक्शनरी अति प्राचीन है, उसमें 'देवृकामा' पद आया है।

१० आर० राथ और मि० व्हिटने ने अपने अथर्ववेदकी भूमिकामें 'देवृकामा' ऋग्वेदका पाठ माना है।

११ साम्प्रदायिक ऋग्वेदियोंने ऋग्वेदके 'देवृकामा' की 'ऋकार' को निकाल कर 'देवकामा' बना लिया। क्योंकि वे नियोग को अच्छा नहीं समझते थे।

'वाद-विवाद का मुख्य विषय क्या है'?

वाद-विवाद का मुख्य-विचारणीय-विषय यह है कि, ऋग्वेद के '**अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि**' वाले मंत्र में शुद्ध पाठ '**देवकामा**' है अथवा '**देवृकामा**' और इन दोनों पाठों में से स्वामिजीने किस पाठको शुद्ध माना है। स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाशमें स्वामीजीने स्पष्ट लिखा है कि- '**वेदादि सत्य शास्त्रों और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनिपर्यन्त जो माना है, वह मैं भी मानता हूं**-' इससे कोई नकार नहीं कर सकता, क्योंकि भारतवासी आर्य (हिन्दु) वेदोंको अपना 'धर्मग्रन्थ' मानते हैं। इस नाते से समस्त आर्य सामाजिक व्यक्ति 'वैदिकधर्मी' कहलाते हैं। इसलिए हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि, प्रस्तुत संस्कारविधिके विवाह प्रकरणमें ऋग्वेदके '**अघोरचक्षुः**' वाले मंत्रमें जो 'देवृकामा' पाठ दिया गया है, उसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें कि उपर्युक्त शुद्ध पाठ 'देवृकामा' है अथवा 'देवकामा', क्योंकि वेद स्वतःप्रमाण हैं और उक्त मंत्रभी वेद से ही सम्बन्धित है, अतः पूर्व हमें वेदकी ही शरण लेनी चाहिए।

'देशी विदेशी समस्त स्थानों की लिखित व मुद्रित ऋग्वेद प्रतियोंमें शुद्ध पद 'देवकामा' ही है'

हमारा दावा है कि, ऋग्वेद मं० १० सू० ८५ के ४४ वें '**अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि**' मंत्रमें शुद्ध पद '**देवकामा**' ही है। इसमें हेतु यह है कि, समस्त देशी विदेशी वेदज्ञ विद्वान तथा प्राचीन व अर्वाचीन आर्यसामाजिक वैदिक विद्वान ऋग्वेदके '**अघोरचक्षुः**' वाले मंत्रमें शुद्ध पद '**देवकामा**' को ही मानते थे और इस समय भी मानते हैं 'देवृकामा' को नहीं। दूसरे-देश-विदेशमें जितनी सुविख्यात सभा सौसायटियां है कि, जिनमें वेदसंशोधन का कार्य बडे परिश्रमद्वारा अनुसंधानिक रूपसे हो रहा है, वहां की लिखित व मुद्रित समस्त प्रतियों में भी शुद्ध पद '**देवकामा**' ही है। 'देवृकामा' नहीं। आगे हम उक्त प्रतिज्ञा व हेतु की सिद्धि में उदाहरणरूपसे निम्न प्रमाण पेश करते हैं- ,

'सनातनधर्मी वेदज्ञ विद्वानों द्वारा मुद्रित ऋग्वेदमें शुद्ध पाठ 'देवकामा ही है-'

(१) बम्बई के निर्णयसागर प्रेस द्वारा मुद्रित ऋग्वेद में, (२) बम्बई में महामहोपाध्याय पं० राजारामशास्त्री द्वारा मुद्रित ऋग्वेदमें, (३) भारतीय बम्बई के गणपत कृष्ण यंत्रालय द्वारा मुद्रित ऋग्वेदमें, (४) पूना वैदिक संशोधनमण्डल द्वारा मुद्रित ऋग्वेदमें, (५) पूना भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूटमें स्थित ऋग्वेदमें, (६) कुम्भकोणके विद्वानों द्वारा मुद्रित ऋग्वेदमें, (७) सी० आर दत्तवाले ऋग्वेद के बंगला अनुवाद में तथा पद पाठमें, (८) पं० गौरी शंकर वाले ऋग्वेदके भाषानुवादमें, अर्थात् उक्त समस्त प्रतियोंमें शुद्ध पद 'देवकामा' ही है। 'देवृकामा' किसी में भी नहीं है। (९) लाहौर ओरियन्टल कालेज, (१०) काशी प्राच्य विद्यालय, (११) बम्बई रायल एशियाटिक सोसायटी, (१२) कलकत्ता रायल एशियाटिक सोसायटी अर्थात् उपर्युक्त सुविख्यात संस्थाओं में जिस कदर वेदकी प्रतियां विद्यमान हैं, उन समस्त में शुद्ध पद 'देवकामा' ही है देवृकामा किसी में भी नहीं, (१३) साम-मंत्र-ब्राह्मण, वैदिक प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ, (१४) आपस्तम्ब मंत्र पाठ, (१५) पारस्कर गृह्यसूत्र, (१६) हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र, (१७) मानवगृह्यसूत्र आदि समस्त प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में शुद्ध पद 'देवकामा' ही है 'देवृकामा' पाठ किसीमें नहीं है।

आर्यसामाजिक विद्वानोंद्वारा मुद्रित ऋग्वेदमें भी 'देवकामा' ही है-

(१८) आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संन्यासी स्वामी विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्दजीद्वारा मुद्रित ऋग्वेदपदसूची में, (१९) लाहौर के श्री पं० विश्वबन्धुजी द्वारा मुद्रित वेद-पद-सूची में, (२०) अजमेर के श्री पं० जयदेवजी द्वारा मुद्रित ऋग्वेदभाषाभाष्य में, उक्त ऋग्वेदप्रतियों में शुद्ध पद 'देवकामा' ही छपा है।

उपरोक्त प्रमाणों से यह तो भली भांति सिद्ध ही हो चुका है कि, एतद्देशीय प्राचीन समय के हस्तलिखित एवं सुविख्यात संस्थाओं में मुद्रित जिस कदर ऋग्वेद एवं ब्राह्मणग्रन्थ आदि की प्रतियां उपलब्ध है, उन समस्त पुस्तकों में शुद्ध पद 'देवकामा' ही है, 'देवृकामा' किसी में भी नहीं है। अब आगे यह प्रश्न और रह जाता है कि, उपर्युक्त पाठों के विषय में यूरोपीय वेदज्ञ विद्वान क्या मानते हैं।

'यूरोप, अमेरिका आदि देशों में मुद्रित ऋग्वेदमें भी 'देवकामा' ही है-

(२१) मि० थीओडोर ओफ्रच द्वारा मुद्रित ऋग्वेद में, (२२) मि० मोरिस ब्लूमफील्ड द्वारा मुद्रित मंत्रसूची में (२३) मि० मोनियर वुईलियम द्वारा मुद्रित ऋग्वेद-शब्द-कोषमें, (२४) मि० एच० एच० विल्सन द्वारा मुद्रित ऋग्वेद के अनुवाद में, (२५) मि० एल्फ टी० एच० ग्रिफितद्वारा मुद्रित ऋग्वेद के अनुवाद में, (२६) मि० मैक्षमूलर द्वारा मुद्रित ऋग्वेदसंहिता एवं सायणाचार्यवाले ऋग्वेदभाष्यमें, (२७) मिस्टर मैक्समूलरद्वारा मुद्रित ऋग्वेदकी उत्तर पदसूची में (२८) यूरोपमुद्रित पदसूची एवं उत्तरपदसूचीमें 'देवकामा' ही है 'देवृकामा' नहीं है। प्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान श्री पं० सातवलेकरजीने मास नवम्बर सन १९४१ के वैदिक धर्म में इसकी विस्तृत विवेचना की है, जो यहां द्रष्टव्य है।

उपरोक्त यूरोपीय वेदज्ञ विद्वानों के जिस कदर उद्धरण दिए गए हैं, उन से यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि, उक्त विद्वानोंने बडे परिश्रमद्वारा अनेक प्रकार के हस्तलिखित एवं मुद्रित ऋग्वेदप्रतियों को जहां-तहां से एकत्र किया, उपरान्त समस्त ग्रन्थोंमें अनुसंधान-विवेचन सहित प्रत्येक के पाठभेदों को निश्चय किया, तब कहीं अन्तमें इस निर्णयपर पहुचें कि, ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ८५ के ४० वें 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि' वाले मंत्रमें शुद्ध पाठ 'देवकामा' ही है, 'देवृकामा' शुद्ध पाठ कदापि नहीं हो सकता।

'देवकामा' की सिद्धिमें जिस कदर उपर्युक्त प्रमाण उद्धृत किए गए है, उनसे पाठकों को यह तो भली प्रकार विदित ही हो गया होगा कि, जिन-जिन स्थानोंमें लिखित व मुद्रित ऋग्वेदप्रतियां उपलब्ध हैं, उन समस्त पुस्तकोंमें शुद्ध-पद 'देवकामा' ही है, 'देवृकामा' किसी भी स्थानकी ऋग्वेद प्रतियोंमें विद्यमान नहीं है।

आर्षजीका कहना है कि— ऋग्वेदमें 'देवकामा' का होना और उसका अर्थ 'ईश्वरकी भक्ति करनेवाली' करना प्रसंग से बाहर है। इस विषयमें देखो—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

१ ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ८५ का यह ४४ वा मंत्र है। जिसका अर्थ सायणाचार्यने इस प्रकार किया है— **हे वधु! त्वं अघोरचक्षुः क्रोधादभयंकरचक्षुरेधि भव, तथा अपतिघ्नी भव, तथा पशुभ्यः शिवा हितकरी भव,**

सुमनाः सुवर्चाश्च भव, वीरसूः पुत्राणामेव प्रसविनी 'देवकामा' स्योना सुखकरा च भव ।

१. उपर्युक्त '**अघोरचक्षुः**' वाले मंत्र तथा उसके अर्थो को देशी-स्वदेशी समस्त वैदिक विद्वान आदरसहित शुद्ध एवं प्रमाणित मानते हैं* और स्वामीजीने भी इसी प्रकार ठीक माना है एवं आर्य सामाजिक विद्वानोंने भी उक्त मंत्र तथा उसके अर्थोंको शुद्ध माना है।

२. ऊपर हमने २८ के लगभग ऐसे प्रमाण दिए हैं कि जिन स्थानोंके लिखित व मुद्रित ऋग्वेद प्रतियोंमें शुद्ध पाठ '**देवकामा**' ही आया है, क्योंकि भारत एवं यूरोप-अमेरिका के वेदज्ञ विद्वानोंने भी ऋग्वेदमें शुद्धपाठ '**देवकामा**' ही माना है तथा इसका अर्थ भी समस्त विद्वानोंने ऐसाही किया है, 'वीरसूर्देवकामा' – वीरप्रसविनी, देवोंकी भक्ति करनेवाली, वीर पुत्रोंके लिए ईश्वर से कामना करनेवाली हो। देखो, यूरोपीय विद्वानभी इसी प्रकार अर्थ करते हैं– Loving the Gods. Be devoted to the Gods. Loving the Gods. इत्यादि किन्तु हमारे आर्षजी 'देवकामा' का अर्थ भी 'देवर अर्थात् दूसरे पतिकी इच्छा करनेवाली' ऐसाही मानते हैं, जो सर्वथा प्रसंगाविरुद्ध है। वस्तुतः '**देवकामा**' का शुद्ध अर्थ तो यही हो सकता है 'ईश्वर की भक्ति करनेवाली'।

किन्तु आश्चर्य है कि, आर्षजीने अपने समूचेट्रेक्टमें अपने दावे की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण व युक्ति पेश नहीं की, जब कि आपका दावा है कि-ऋग्वेदमें 'देवृकामा' ही शुद्ध पाठ है–तो यह ऋग्वेदद्वारा सिद्ध करना चाहिए था कि आप किस स्थान व संस्था के लिखित व मुद्रित ऋग्वेदको–जिसमें आपने 'देवृकामा' पाठ देखा है–शुद्ध व प्रमाणित मानते है, अथवा संस्कारविधि को ही प्रमाणित माने बैठे हैं! परन्तु उपर्युक्त मंत्र तो ऋग्वेद का है, उसीसे संस्कारविधि में आया है, अतएव संस्कारविधि की अपेक्षा प्रमाणरूपसे वेदही अधिक महत्त्व रखते हैं।

हां! यह बात आवश्यक है कि, आर्षजीने ऋग्वेदका आश्रय सर्वथा छोड कर केवल प्रथम-द्वितीय संस्कारविधि तथा अथर्ववेद ही का सहारा पकडा है और उसमें हेरफेर करके भोली-भाली जनता को यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि, ऋग्वेदका शुद्ध पाठ 'देवृकामा' ही है। अब हम पाठकों की जानकारी के लिए एक महत्त्वपूर्ण एवं आश्चर्यजनक रहस्य प्रथम संस्कारविधि से ही दर्शाना चाहते हैं कि, उसमें शुद्ध पाठ '**देवकामा**' है अथवा 'देवृकामा'।

'प्रथम संस्कारविधिमें भी शुद्ध पाठ 'देवकामा' ही है।

१ संस्कारविधि का 'प्रथम–संस्करण' संवत् १९३३ वि० को एशियाटिक यंत्रालय बम्बई में मुद्रित हुआ है। इसके विवाहप्रकरण के आरम्भ ही में

पृष्ठ ७९ से पृष्ठ ८३ तक '**आश्वलायन-गृह्यसूत्र**' के प्रमाण हैं।

पृष्ठ ८३ से पृष्ठ ८८ तक '**पारस्कर-गृह्यसूत्र**' के प्रमाण हैं।

पृष्ठ ८८ से पृष्ठ ९० तक '**गोभिलीय-गृह्यसूत्र**' के प्रमाण हैं।

इसके आगे पृष्ठ ९०–९१ पर '**ऋग्वेद**' के प्रमाण हैं। और—

आगे पृष्ठ ९२ से पृष्ठ ९६ तक '**अथर्ववेद**' के प्रमाण हैं।

इस स्थलपर जहां प्रत्येक ग्रन्थों के प्रमाणों का संग्रह भिन्न-भिन्न दिया हुआ है, वहां पर ऋग्वेद के मन्त्रों का संग्रह भी एकही स्थान पर पृथक् दिया है, एवं पारस्कर गृह्यसूत्र के मन्त्रों का संग्रह भी एकही स्थानपर पृथक् दिया है।

२. यहांपर जरा ध्यान देनेकी आवश्यकता है, प्रथम संस्कारविधि में ऋग्वेद के मंत्रसंग्रह पृष्ठ ९१ पर ऋग्वेद का '**अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि**' वाला मंत्र आया है कि, जिसमें '**वीरसूर्देवकामा**' शुद्ध पाठ इसी विचार से दिया गया है कि, समस्त स्थानों के मुद्रित व लिखित ऋग्वेद-प्रतियों में '**देवकामा**' ही पाठ है।

३. प्रथम संस्कारविधि में पारस्कर गृह्यसूत्र आदि के मंत्रों का एवं ऋग्वेदादि के मंत्रोंका जहां संग्रह पृथक्-पृथक् दिया है, वहां इन सबों का अर्थ भी अलग-अलग कर दिया है। इस प्रकार समस्त ऋग्वेदमंत्रोंका अर्थ पृष्ठ १०७ से पृष्ठ १०९

*नवरत्न विवाह–पद्धति के पृष्ठ १५२ पर 'अघोरचक्षुः' मंत्र को अथर्ववेद काण्ड १४, अ० २, मंत्र १८ मानकर निम्न अर्थ किया है। (वीरसूः) वीर पुत्रोंको पैदा करनेवाली (देवकामा) देवान् अग्न्यादीन् पूजार्थं कामयति, अर्थात् देवताओंमें तथा पितरोंमें श्रद्धावाली हो।

तक दिया है। जिसमें पृष्ठ १०८ पर मंत्र ४३-४४ का एक साथही अर्थ इस प्रकार है- 'प्रजापति परमात्मा हमारे इस गृहाश्रम में प्रजाको दीर्घायुवाले उत्पन्न करे और सब आनन्द-भोग से सत्कृत करें, जो मंगलकारिणी स्त्री पतिलोक जो गृहाश्रम उसको प्राप्त हो, सब मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिए' केवल इतनाही अर्थ किया है।

४ प्रथम-संस्कारविधि के पृष्ठ ९१ पर एक तो शुद्धपाठ '**देवकामा**' का होना और दूसरे उसके अर्थ भी **नियोग-परक न होना** यह दोनों प्रमाणित करते हैं कि, **ऋग्वेद** में शुद्ध पाठ '**देवकामा**' ही है, 'देवृकामा' नहीं है।

यहां पर यह शंका उठाई जा सकती है कि- प्रथम-संस्कारविधिमे पृष्ठ ९१ पर ऋग्वेदके 'अघोरचक्षुः' मंत्र में जो 'देवकामा' पद आया है, वह गलतीसे छप गया है, इस कारण ऋषिने उसका पुनः संशोधन किया है और अन्त में शुद्धाशुद्धि पृष्ठ ५ पर अशुद्ध 'देवका' और शुद्ध 'देवृका' बनाकर छाप दिया है।

जब ऋग्वेदमें भी शुद्ध पद 'देवकामा' ही है, फिर संशोधन किस के द्वारा किया ?

१. ऋषिने संशोधन किया अथवा किन्हीं अन्य पंडितोंने, किन्तु किया किस ग्रन्थके आधार से, क्या ऋग्वेद-संहिताको छोडकर किन्हीं अन्य ग्रन्थों से संशोधन किया ? यदि यह सत्य है, तो उलटे मार्गपर चलकर भारी गलती की। क्योंकि 'देवकामा' ऋग्वेदके मंत्रका पद है, अतएव 'देवकामा' का संशोधन किसी ऐसी ऋग्वेदसंहितासे ही हो सकता है कि, जिसमें 'देवृकामा' पद मौजूद हो, अन्य किसी ग्रंथसे संशोधन होना असम्भव है। किन्तु हम यह दावेके साथ कह सकते हैं कि, स्वामिजीके पुस्तकालयमे 'देवृकामा' वाली ऋग्वेद-संहिता न उस समय थी और न अब मौजूद है। साथही इस समय भी किसी देशी-विदेशी संस्था-सोसायटीमें 'देवृकामा' वाली ऋग्वेद-संहिता का मिलना असम्भव है। इसकी पुष्टिमें हम केवल आर्षजी ही के 'ट्रेक्ट' को पेश करते हैं, कि उसमें भी किसी स्थलपर 'देवृकामा' वाली ऋग्वेद-संहिताका वर्णन नहीं है।

२. यदि यह अनुमान ठीक है कि, वहांपर '**देवकामा**' गलती से छप गया, वस्तुतः 'देवृकामा' होना चाहिए था। यदि ऐसे ही मान लें, तथापि वहांपर उसका अर्थ भी तो नियोग-परक 'दूसरे पतिकी कामना करनेवाली' ऐसा होना चाहिए था ? परन्तु वहांपर न तो नियोग-परक अर्थ और न 'देवृ-कामा' पाठ एक तरफ से दोनोंका अभाव ही है, अपि तु इसके विपरीत वहांपर '**देवकामा**' पाठ मौजूद और उसके अनि-योगपरक अर्थ भी विद्यमान; फिर भला यह कैसे मान लिया जा सकता है कि, **देवकामा** पाठ वहां गलती से छप गया ?

३. प्रथम-संस्कारविधिके ९१ पृष्ठवाले शुद्ध पद '**देवकामा**' का शुद्धा-शुद्धि-पत्रपर ले जाकर 'देवका' अशुद्ध पद का 'देवृका' शुद्ध पद बना देना तो सहज ही काम था, अतः बना दिया गया, **परन्तु इसके अर्थ भी तो अशुद्ध ही थे ? फिर इन्हें संशोधन करके शुद्धा-शुद्धि-पत्रपर क्यों नहीं ले जाया गया ?**

परन्तु अर्थ ज्योंके त्यों मौजूद !! केवल शुद्ध-पद '**देवकामा**' को शुद्धा-शुद्धि-पत्रपर ले जाकर न जाने किस आधारसे अशुद्ध-पद 'देवृकामा' बनानेका साहस कर डाला!! जब कि समस्त देशी-विदेशी वैदिक विद्वान प्रत्येक स्थानोंके लिखित व मुद्रित ऋग्वेद-संहिताकी प्रतियोंमें शुद्ध पद '**देवकामा**' ही को मानते है 'देवृकामा' को नहीं।

'पारस्कर-गृह्यसूत्र में भी शुद्ध पद 'देवकामा' ही है

१. पारस्कर गृह्यसूत्रके '**अघोरचक्षुः**' वाले मंत्रमें हम दावेके साथ कह सकते है कि, किसीभी स्थानके लिखित व मुद्रित पारस्कर गृह्यसूत्रकी प्रतियोंमें न तो 'देवृकामा' पाठ है और न उसका नियोगपरक अर्थ ही किया है; समस्त स्थानोंकी मुद्रित पारस्कर गृह्यसूत्रकी प्रतियोंमें शुद्ध पाठ '**वीरसूर्देवकामा**' ऐसा दिया है और उसके अनियोग-परक अर्थ (**वीरसूः**) सुपुत्रजननी (**देवकामा**) देवान् अग्न्यादीन् कामयेत सेवार्थमीहेत, यद्वा-देवं देवनं क्रीडां कामयेत्" इस प्रकार किए हैं। आर्षजी ! क्या आप किसीभी स्थानके छपे हुए पारस्कर गृह्यसूत्र की प्रतियोंमें 'देवृकामा' पाठ और उसके नियोगपरक अर्थ दिखला सकते है ? जब कि पारस्कर गृह्यसूत्रमें न तो 'देवृकामा' ही पाठ है और न नियोगपरक अर्थ, फिर आश्चर्य है कि, पारस्कर गृह्यसूत्र-वाले मंत्रमें 'देवृकामा' अशुद्ध-पाठ छापनेका साहस कैसे किया गया ?

२. छपतेसमय पुस्तकों में अशुद्धियोंका रह जाना सम्भवही है। बादमें उनके विषयोंको उन्हीं ग्रन्थों से संशोधन किया जाता है कि, जिनके आधारपर वे मुद्रित किए जाते हैं।

उपरान्त वह शुद्धा-शुद्धिपत्र उन पुस्तकोंके अन्त में लगा दिया जाता है। ऐसा कदापि नहीं होता कि, पारस्कर गृह्यसूत्रवाले मंत्रोंका संशोधन किसी अन्य सूत्र से किया जाय।

' प्रथम-संस्कारविधि में केवल षोडश संस्कारों का व्याख्यान मात्र ही है। '

१. संस्कारविधि का प्रथम संस्करण वि. सं. १९३२ मे आरम्भ होकर और श्रीयुत लक्ष्मणशास्त्री द्वारा शोधन होकर वि. सं. १९३३ को एशियाटिक यंत्रालय बम्बई मे मुद्रित हुआ था। प्रथम संस्कारविधि तथा प्रस्तुत संस्कारविधि के नामोंमें किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं है, परन्तु प्रथम संस्कार-विधि 'क्रिया-विधान' से सर्वथा रहित ही है। क्योंकि प्रस्तुत संस्कारविधि के अनुसार इसमे न तो किसी प्रकार की क्रिया-विधि ही है और न यज्ञविधि ही, अपितु सामान्य प्रकरण का अग्न्याधान-समिधाधान एवं अष्टाज्याहुति आदि कुछ भी अङ्कित नहीं हैं। प्रस्तुत संस्कारविधि में जिस प्रकार प्रत्येक संस्कार की क्रियाविधि दी गई है, उसी प्रकार गृहाश्रम-संस्कार के अन्तर्गत पंच महायज्ञ के ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदि पंच-यज्ञ भी दिए हैं, किन्तु वे भी इसमे विद्यमान नहीं। इसमें क्रिया-विधि कुछ भी न देकर केवल यह दर्शाया गया है कि, आश्वलायन गृह्यसूत्र आदि इन संस्कारों के विषय मे किस प्रकार क्या क्या मानते है। हमारे विचार में यदि इस पर ऊपरसे संस्कारविधि एवं स्वामिजी का नाम हटा दिया जाय, तो यह पुस्तक संस्कारों का संग्रह एवं उनकी व्याख्यामात्र ही रह जाती है ' संस्कारविधि ' नहीं रहती।

२ स्वामिजी के जीवनकालमे प्रथम संस्कारविधि का दौर-दौरा लगभग आठ वर्ष तक बराबर जारी रहा, परन्तु यह किंचित् मात्र भी विश्वास नहीं होता कि, इतने अर्से में इसके द्वारा कोई वैदिक संस्कार कराया गया होगा, अथवा नहीं; यदि कराया गया, तो किस क्रियाद्वारा सम्पन्न हुआ? जब कि, उसका प्रत्येक संस्कार ' क्रिया-विधि ' शून्यही है। अतः यहांपर यह प्रकट कर देना अत्युक्ति दोष न होगा कि जिस प्रकार तथा जिस क्रमसे पारस्कर गृह्यसूत्र आदि में विवाह आदि प्रत्येक संस्कार का विधान पाया जाता है, उसी प्रकार उसके विधिविधान को ज्यों का त्यों प्रथम संस्कारविधि में उद्धृत कर दिया गया था। पश्चात् जब सनातन धर्मपद्धति को देखा, तो फिर उसीके ढंगपर कुछ न्यूनाधिक करके दूसरी संस्कारविधि की रचना की गई है, क्योंकि सनातन-धर्म-विवाहपद्धति के क्रम से प्रस्तुत संस्कारविधि के विवाह-प्रकरण का क्रम सर्वथा ज्यों का त्यों मिलता-जुलता है, कि जो पारस्कर गृह्यसूत्र में भी समानतया ही मौजूद है।

३. ऐसा कहा जाता है कि, स्वामीजीने पुनः संशोधन करके शुद्धा-शुद्धि-पत्रपर ' देवकामा ' पाठ बना दिया था। यह मिथ्या दोष स्वामिजी के सिर मढा जाता है, स्वामीजीने न तो पूर्वहो संशोधन किया और न पश्चात्‌ही × क्योंकि उन्हें तो छपे हुए ग्रन्थों को भी देखनेका अवकाश नहीं मिलता था, संशोधन करना तो एक ओर रहा।

४. उपरोक्त प्रकारकी सब गडबड स्वामीजी के विश्वास पात्र ब्र० रामानन्द आदि पंडितो ही की है कि, जो लिखने व संशोधन आदि का काम करनेके लिएही नियत थे। (ऋग्वेदभाष्य वैदिक यंत्रालय प्रयागमुद्रित सं० १९४७ के टाईटल-पेजपर टिप्पणी छपी है, ' इस भाष्य की भाषाको पंडितोंने बनाई और संस्कृतको भी उन्होंने शोधा। ')

' प्रथम-संस्कारविधिके पुनः संशोधनका कारण '

स्वामीजीको जब यह पता चला कि, मेरे विश्वास-पात्र सेवकोंने अपनी चालाकीसे संस्कारविधिमे गडबड करके इस कदर मिलावटें कर दी हैं कि ' गर्भाधान-संस्कार ' एवं 'अन्न-प्राशन-संस्कार' मे ' मांसयुक्त भात ' खानेखिलानेका विधान रख दिया है, और इसी प्रकार विवाहके अतिरिक्त प्रकरणके विरुद्ध ' सीमन्तोन्नयन-संस्कार ' तथा ' मृतक-संस्कार ' इन दोनोंमें भी नियोगका विधान सिद्ध करनेके लिए मंत्र रख दिए और उनकी नियोगपरक व्याख्या भी कर डाली, यह देखकर उनको बहुत दुःख हुआ। इन्हीं कारणोंसे बाधित होकर स्वामि-जीने अपने मरनेसे चार मास पूर्व द्वितीय-संस्कारविधिका ' नवीन-संस्करण ' निकालनेका विचार किया। प्रथम-संस्कार-विधिका पुनः संशोधन वि० सं० १९४० आषाढ वदि त्रयोदशी को आरंम्भ होकर स्वामिजीके देहान्तके पश्चात् वि० स० १९४१ मे ' द्वितीय-संस्करण ' के नामसे संस्कारविधि वैदिक यंत्रालय प्रयागमुद्रित हुई। इसी बीच आश्विन वदि चतुर्दशी

× बम्बईमुद्रित प्रथम संस्करण के टाईटिल-पेजपर छपा है ' श्रीयुत लक्ष्मणशास्त्रिणा शोधितः।

वि० सं० १९४० में स्वामीजीको विष दिया गया और वे एक मास पर्यन्त अस्वस्थ रहे। तदनन्तर वि० सं० १९४० अमावस्याको उनका स्वर्गवास हो गया। उक्त हिसाबसे ढाई-तीन मासके अल्प समयमें प्रथम-संस्कारविधिका संशोधन कर के द्वितीय-संस्कारविधिका निर्माण कराया गया।

वस्तुतः यदि प्रथम--संस्कारविधि तथा प्रस्तुत संस्कारविधि दोनोंका मीलान किया जाय, तो यह कह देना साहसमात्रही होगा कि प्रथम-संस्कारविधिका पुनः संशोधन किया गया है। अपितु यह मान लेना अधिक उपयुक्त होगा कि, प्रथम-संस्कारविधिको कायापलट करके नवीन-संस्कारविधिकी रचना की गई है।

'प्रथम--संस्कारविधिकी रचना केवल गृह्यसूत्रोंके ही अधारपर की गई थी।

१ प्रथम--संस्कारविधिके कुल **१५३** पृष्ठ है, जिनमें केवल षोडश-संस्कारोंका नाम तथा उनका व्याख्यान दिया गया है। इनमेंसे यदि प्रत्येक संस्कार एक--दो पृष्ठोंपर मान लिया जाय, तो कुल तीसक पृष्ठोंपर षोडश--संस्कारोंका समस्त विषय आ जाता है, कि जो पुन संशोधन की हुई 'द्वितीय-संस्कारविधि' मे गया है। शेष आरम्भसे अन्ततक समस्त पृष्ठोंका संपूर्ण विषय प्रथम-संस्कारविधिसे बाहर निकालकर फेक दिया है। उदाहरणार्थ, प्रथम-संस्कारविधिके विवाह-प्रकरणकोही ले लीजिए पृष्ठ ७९ से लेकर पृष्ठ **११४** तक विवाहप्रकरण दिया हुआ है, इन ३४--३५ पृष्ठोंमे केवल 'आश्वलायनगृह्यसूत्र' के मंत्र एवं व्याख्यान, 'पारस्कर गृह्यसूत्र' के मंत्र एवं व्याख्यान। 'गोभिलीय गृह्यसूत्र' के मंत्र एवं व्याख्यान। इन तीनोंका सब कुछ संस्कृतही मे है। आगे ऋग्वेदके १५ मंत्र तथा अथर्ववेदके ५२ मंत्र दिए हैं और साथमें कुछ श्लोक मनुके भी दिए गए है और तीनोंका अर्थ भी भाषामें कर दिया है।

२. अन्य गृह्यसूत्रोंकी अपेक्षा पारस्कर गृह्यसूत्रमें विवाहविधिका विधान विशेष रूपसे दर्शाया गया है, अतएव विवाह-संस्कार की संपूर्ण रचना प्रत्येक आचार्यने इसीके आधारपर की है। आश्वलायन-गोभिलीय गृह्यसूत्रोंमें पारस्कर गृह्यसूत्रसे कुछ विशेष नहीं है, यह जानकर इन दोनोंको तथा साथमें ही मनुके श्लोकोंको भी प्रायः अलगशाही कर दिया। ऋग्वेद के तथा अथर्ववेदके मंत्रोंमेसे भी कुछ मंत्र छोडकर शेष सब निकाल दिए गए।

किन्तु यह एक विचित्र बात हुई कि, ऋग्वेदके '**दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि**' आदि मंत्र कि जिनका नियोगपरक अर्थ किया जाता है और साथमेंही अथर्ववेद काण्ड **१४** के १७ वें १८ वें (पृष्ठ ११२ पर जहां अथर्ववेदमंत्रोंके अर्थ दिए हैं, वहां पर उक्त दोनों मंत्रोंका 'नियोगपरक अर्थ' भी नहीं किया गया है)। '**देवृकामा**' वाले दोनों मंत्र अर्थात् **दोनों वेदोंके जितने नियोगपरक मंत्र व अर्थ थे, उन सबकोभी निकाल बाहर कर दिया गया। इसके अतिरिक्त प्रथम--संस्कारविधिमें जिस-जिस स्थल पर नियोगसूचक मंत्र, श्लोक, सूत्रादि आए थे, जिनके नियोगपरक अर्थ किए थे, उन सबको भी देशनिकाला दे दिया गया।** अर्थात् ३४-३५ पृष्ठोंमे दिया हुआ विवाहके विधिविधानमेंसे केवल उपर्युक्त ग्रन्थोंका शेष-भाग तथा पारस्करगृह्यसूत्रका कुछ विशेष भाग द्वितीय-संस्कारविधिके लिए रखकर **शेष सबका सब निकाल बाहर कर दिया गया।**

३. जिस प्रकार पारस्करगृह्यसूत्रमें '**साधु भवानास्ताम्-मधुपर्कोमधुपर्कः**' आदि मंत्रोंसे लेकर '**ध्रुवं पश्य**' तक मंत्रोंके अतिरिक्त (१) **समञ्जन्तु विश्वे देवाः** (२) **येदैवि मनसा दूरम्** (३) **अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि**(४) **सा नः पूषा शिवतमा** ये चार मंत्रभी क्रमवार एकही सरडेमें दिए है, उसी प्रकार क्रमसे एकही सरडेमे उक्त चारों मंत्रोंसहित समस्त मंत्रोंकी ज्यों की त्यों नकल प्रथम-संस्कारविधिमें की गई है। यहांपर यह कहा जा सकता है कि-उपर्युक्त मंत्र तो ऋग्वेदमेंभी आए हैं, फिर इनको पारस्कर गृह्यसूत्रकेही क्यो कहे जाते है? ऋग्वेदमें केवल '**समञ्जन्तु**' तथा '**अघोरचक्षु**' ये दोही मंत्र है, इसी कारण वहांपर इनका क्रम भी नहीं है और पारस्करगृह्यसूत्रमें उपर्युक्त चारों मंत्रोंका क्रम पाया जाता है, अतः- स्पष्ट विदित होता है कि **यह मंत्रोंका क्रम पारस्करगृह्यसूत्रसेही लिया गया है, नकि ऋग्वेद-संहितासे।** इसलिये यहांपर निर्विवाद मानना पडेगा और हमारे आर्षजीभी इससे नकार न करेंगे कि- उक्त चारों मंत्रोंका क्रम अतिरिक्त पारस्कर गृह्यसूत्रके अन्य किसी ऋग्वेदादि ग्रंथोंमें नहीं हो सकता।

४. प्रथम-संस्कारविधिका पुनः संशोधन होनेपर भी उपर्युक्त चारों मंत्र क्रमवार 'द्वितीय-संस्कारविधि' में पृष्ठ **११४**

पर ज्योंके त्यों छाप दिए गए हैं और साथ में 'अघोरचक्षुः' वाले मंत्रमें वही अशुद्ध पाठ ' देवृकामा 'ही दिया हुआ है, किन्तु अर्थ कुछ न्यूनाधिक करके ' देवरकी कामना करनेवाली अर्थात् नियोगकी भी इच्छा करनेहारी ' ऐसा किया गया है। स्वामीजीने यदि इसका स्वयं संशोधन किया होता, तो यह कब सम्भव था कि, 'देवृकामा' अशुद्ध पाठ नियोगपरक अर्थसहित द्वितीयसंस्कारविधिके पृष्ठ ११४ पर दिया जाता ? क्योंकि स्वामीजी स्वयं जानते थे कि, समस्त स्थानोंकी लिखित व मुद्रित पारस्कर गृह्यसूत्र की प्रतिमें शुद्ध पाठ ' देवकामा 'ही है। अतः इसकी अधिक पुष्टि इससे और हो जाती है कि, प्रथम-संस्कारविधिमें शुद्ध पाठ 'देवकामा' को अशुद्ध पाठ ' देवृकामा ' बना देनेपर स्वामीजीने उसे पुन. संशोधन करके ' देवकामा ' बना दिया है— देखो ! द्वितीय-संस्कारविधि पृष्ठ १३४ पर शुद्धपाठ ' देवकामा ' ही छपा है और ' वहां पर नियोगपरक अर्थ' भी नहीं है। इससे अधिक पुष्टि 'देवकामा' की सिद्धि में और क्या हो सकती है ? पूर्व हम इसपर भले प्रकार प्रकाश डाल चुके हैं, अतः यहां पर और अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं । पाठकवृन्द स्वयं विचार कर लें।

आर्यजीका कहना है कि- यह प्रश्न निःसार है, उसी पृष्ठ-पर लिखा है कि, ' इस मंत्र का अर्थ पृष्ठ ११४ में लिखे प्रमाण जानना ' पृष्ठ १३४ पर छापेकी अशुद्धि स्पष्ट है।

द्वितीय-संस्कारविधिमें भी ऋग्वेद का शुद्ध पाठ ' देवकामा ' ही है।

१. जिस प्रकार प्रथम-संस्कार-विधि में पृष्ठ ९१ पर (१) आ नः प्रजां जनयतु (२) अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि (३) इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः (४) सम्राज्ञी श्वशुरे भव, ये चार मंत्र क्रमवार दिए हैं, निस्संदेह इन चारों मंत्रोंका क्रम ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ८५, मंत्र ४३ से ४६ तक पाया जाता है। इन में दूसरा मंत्र 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि' वाला है, कि जिस में शुद्धपद ' देवकामा ' ही दिया हुआ था, किन्तु हमारे कर्मचारियों की कृपासे उसका संशोधन करके शुद्धाशुद्धि-पत्रपर ' देवका ' का 'देवृका' बना दिया गया। जब प्रथम-संस्कारविधि का संशोधन हुआ, तो शुद्धा-शुद्धिपत्रपर अशुद्ध-पद ' देवृका ' को देख-कर स्वामिजी आश्चर्य-चकित रह गए, फिर उन्होंने स्वयं अपने हाथसे इस ' देवृकामा ' अशुद्ध पदके स्थानपर शुद्धपद ' देवकामा ' बनाया। देखो - द्वितीय-संस्कारविधि पृष्ठ १३४ पर उपर्युक्त चारों मंत्र क्रमवार दिए हैं, कि जिसके 'अघोरचक्षुः' वाले मंत्रमें शुद्धपाठ ' देवकामा ' छपा है। जो उस स्थलपर सिर ऊंचा किए हुए यह दर्शा रहा है कि, जिन कर्मचारियोंने जानबूझकर अशुद्ध-पाठ 'देवृकामा' बना दिया था, उसे स्वामी-जीने संशोधनद्वारा पुनः ' देवकामा ' बनाकर यह स्पष्टतया प्रमाणित कर दिया है कि, ऋग्वेदके ' अघोरचक्षु ' वाले मंत्रमें शुद्धपाठ ' देवकामा ' ही है और प्रथम-संस्कारविधिमें भी यह शुद्धपाठ इसी प्रकार छपा है- ' देवृकामा ' होना किसी दशामें भी सम्भव नहीं।

१. पृष्ठ १३४ पर छापे की अशुद्धि है, ऐसा कहना सर्वथा निस्सार है। क्योंकि जब द्वितीय-संस्कारविधिका शुद्धा-शुद्धि-पत्र बनाया गया, तो पृष्ठ १३४ पंक्ति ५ पर ' आ नः प्रजान् ' मंत्रमें अशुद्ध ' शन्नभव ' और शुद्ध ' शन्नो भव ' बना-कर शुद्धा-शुद्धि-पत्रपर दिखलाया गया है। इसमें अगाड़ी ' अघोरचक्षुः ' वाले मंत्रकी पंक्ति ८ पर ' देवकामा ' भी आया है, भला इसे शुद्धा-शुद्धि-पत्रपर क्यों नहीं ले जाया गया? ' शन्नभव ' की तरह क्या यह अशुद्ध दिखलाई नहीं दिया? जो ज्यों का त्यों अशुद्ध-पद बना रहा ? अतः विदित होता है कि, यदि यह अशुद्ध छप गया होता, तो शुद्धा-शुद्धि-पत्रपर अवश्य दिखलाया जाता, किन्तु इस का शुद्धा-शुद्धि-पत्रपर दिखलाया न जाना ही स्पष्ट सिद्ध करता है कि, ऋग्वेदके 'अघोरचक्षुः' वाले मंत्रमें ' देवकामा ' पाठ ही शुद्ध है और ' देवृकामा ' सर्वथा अशुद्ध पाठ है।

२. प्रथम संस्कारविधि की भांति इस द्वितीय संस्कार-विधिमें भी शुद्धाशुद्धि पत्र दो पृष्ठोंपर दिया गया है। जिस प्रकार प्रथम-संस्कारविधिके पृष्ठ ९१ पर दिए गए क्रमवार चारों मंत्रोंके मध्य, ' अघोरचक्षु ' वाले मंत्रमें शुद्धपद ' देवकामा दिया है, उसी प्रकार द्वितीय-संस्कारविधिमें भी ज्यों के त्यों क्रमवार उक्त चारों मंत्र आए हैं कि, जिस के ' अघोरचक्षुः ' वाले मंत्र में भी शुद्धपद ' देवकामा' ही छपा है। प्रथम-संस्कारविधिके शुद्धपद ' देवकामा 'को तो शुद्धा-शुद्धिपत्रपर ले जाकर अशुद्धपद ' देवृकामा ' बना डाला, किन्तु आश्चर्य है कि, द्वितीय संस्कारविधि के शुद्धपद ' देवकामा ' को शुद्धा-शुद्धि-पत्रपर पूर्व की तरह क्यों नहीं ले जाया गया? इस का स्पष्ट कारण यह है कि-उक्त ' देवकामा ' शुद्धपद और इसका पुनः संशोधन ' स्वामीजीने स्वयं अपने हाथसे किया था

तथा आगे कर्मचारियोंको सचेत भी कर दिया होगा कि-यह ऋग्वेदके मंत्रका शुद्धपद **' देवकामा '** है, अतः इसमें फिर किसी प्रकार की गडबड न होने पाए, अतएव ज्यों का त्यों बना रहा।

३. इतना भी क्या कुछ कम था कि, कर्मचारियोंने स्वामीजीकी आज्ञानुसार उक्त शुद्धपद **' देवकामा '** को शुद्धा-शुद्धि-पत्र की ' बली वेदी ' पर नहीं चढाया। परन्तु फिर भी हमारे कर्मचारीगण कब चूकनेवाले थे, अब यह तो उनकी शक्तिसे बाहर था कि, उक्त शुद्धपद **'देवकामा'** को अशुद्धपद 'देवृकामा' बना डालते, क्योंकि इसे स्वामीजीने स्वयं संशोधन किया था।

४. पाठकगण! जरा ध्यानपूर्वक विचारें- ' इस मंत्रका अर्थ पृष्ठ ११४ पर लिखे प्रमाणें जानना ' यह नोट देते समय उन भले मानुषोंने यह सर्वथा विचार नहीं किया कि, इस मंत्र में तो पाठ ' देवकामा ' है और पृष्ठ ११४ पर ' देवृकामा ' कि जिसका अर्थ ' देवर की कामना करती हुई, अर्थात् नियोगकी भी इच्छा करनेहारी ' ऐसा छपा है। ' देवकामा ' का ऐसा घृणित अर्थ ' नियोगकी भी इच्छा करनेहारी ' क्या कोई बुद्धिमान पुरुष कभी मान सकता है? कदापि नहीं। यदि पृष्ठ १३४ पर ' अघोरचक्षुः ' वाले मंत्र में ' देवृकामा ' पाठ होता, तो ऐसा नोट देना वस्तुतः सम्भव था कि ' इस मंत्र का अर्थ पृष्ठ ११४ पर लिखे प्रमाणे जानना' परन्तु जब १३४ पृष्ठ पर ' देवृकामा ' पाठ ही नहीं है, तो फिर उसका नियोग-परक अर्थ करना सरासर गलती ही है।

५. संस्कारविधि का ' तीसरा-संस्करण ' वि० सं० १९४७ में वैदिक यंत्रालय अजमेरमुद्रित हुआ है। वैदिक यंत्रालय-वालों ने जब द्वितीय-संस्कारविधिके पृष्ठ १३४ पर ' अघोर-चक्षु ' वाले मंत्रमें ' देवकामा ' छपा हुआ और इसीसे संबधित नीचे यह नोट 'इस मंत्रका अर्थ पृष्ठ ११४ में लिखे प्रमाणे जानना ' देखा, तो उनके हृदयमे निम्न प्रश्न उठना स्वाभाविक ही था, कि जिस मंत्र में शुद्ध-पद ' देवकामा ' हो आश्चर्य है, कि, उसके लिए ' देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी ऐसे विचित्र अर्थ की ओर संकेत किया गया हो? बस उन्हों ने तुरन्त इस प्रश्नका समाधान करने एवं नोट को सार्थक बनाने के लिए अपनी **बुद्धिमत्ता** एवं दूर-दर्शिता द्वारा ' तृतीय-संस्करण ' छापते समय पृष्ठ १३७ पर दिए हुए अघोर-चक्षुवाले मंत्रमें शुद्धपद **' देवकामा '** बदल कर अशुद्धपद ' देवृकामा ' बना डाला। उस समयसे अबतक प्रत्येक संस्करणमें अशुद्धपद ' देवृकामा ' ही बराबर छपता चला जाता है।

६. पाठकवृन्द! देखा आपने, अशुद्धपद ' देवृकामा' को ऋग्वेदका पाठ सिद्ध करनेके निमित्त किस प्रकारके हेरफेर किए गए है? अर्थात् प्रथम- संस्कारविधिके पृष्ठ ९१ पर छपे हुए शुद्धपद ' देवकामा ' का संशोधन करके शुद्धा-शुद्धि-पत्रपर अशुद्धपद ' देवृकामा ' बनाकर दिखलाया, किन्तु **अर्थ अनियोगपरक ज्योंके त्यों बने रहे!!** जब स्वामीजीने उसे दो वारा संशोधन करके पुनः शुद्ध-पाठ **'देवकामा'** बना दिया-जो द्वितीय संस्कारविधि पृष्ठ १३४ पर छपा हुआ विद्यमान है- तदुपरान्त ' वैदिक यन्त्रालय अजमेर ' वालोंने पुनः उसे अशुद्धपद ' देवृकामा ' बना डाला। क्या कोई विश्वास कर सकता है कि, यह कार्य स्वयं स्वामीजीका है? क्या उन्होंने चालाकीसे जनता को धोका देकर अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए उक्त प्रकारके हेर-फेर किए है?

'संस्कारविधिमें स्वामीजीने 'नियोगका विधान' नहीं किया '।

१. यह कहना ठीक है; यदि स्वामीजी को ' नियोगका विधान ' अभिमत होता, तो उनको उचित था कि, **प्रथम-संस्कारविधिमें नियोग-परक जो-जो मंत्र व अर्थ विद्यमान थे, उन सबको तथा इस की पुष्टिमें जिस कदर नियोगपरक विषय उपलब्ध होता, उन संपूर्ण विषयको द्वितीय-संस्कारविधिमें जमा किया जाता।** परन्तु इसके विपरीत स्वामीजीने संशोधन करते समय प्रथम-संस्कारविधिके जिसजिस स्थलपर नियोगपरक मंत्र व अर्थ आए थे, उन सबको तो निकाल ही दिया था, परन्तु, आश्चर्य है कि, नियोगके संस्थापक अथर्ववेदके ' देवृकामा ' वाले १७ वें व १८ वें दोनों मुख्य-मंत्रोंको भी यहासे निकाल बाहर किया। इनका ऐसा करना स्पष्ट प्रकट करता है कि, स्वामीजीको विवाह जैसे शुभावसर पर ' नियोगका विधान ' मानना तो एक ओर रहा, अपितु उसका वर्णन करना भी वे अति-निकृष्ट समझते थे।

' संस्कारविधिमें स्वामीजीने देवर शब्दका अर्थ ' दूसरा-वर ' ऐसा नहीं किया '

' अर्थात् नियोगकी भी इच्छा करनेहारी ' यह अर्थ ' देवृ-

कामा ' के किस अंशसे निकलता है ? याने ' नियोग ' तथा 'दूसरा-पति ' किस शब्दके अर्थ है ? यहांपर जो यह 'अर्थात्' शब्द दिया है, सर्वथा कल्पना--सूचक एवं सन्देह-जनक प्रतीत होता है, जो स्पष्ट प्रकट करता है कि 'नियोगकी भी इच्छा करनेहारी ' यह वाक्य पीछेसे मिला दिया है ! क्योंकि 'अर्थात्' शब्द ' देवरकी कामना करनेवाली'......'नियोगकी भी इच्छा करनेहारी ' दोनोंके मध्यमें पड़ा है, जो ' नियोगकी भी इच्छा करनेहारी ' कल्पित अर्थको, पूर्वका वास्तविक अर्थ ' देवरकी कामना करनेवाली'से नितान्त पृथक् करता है । अतएव ' देवृ कामा ' का ' देवरकी कामना करनेवाली ' केवल इतनाही अर्थ प्रसंगानुसार मानना श्रेष्ठ है ।

३. स्वामीजीने संस्कारविधिमें ' देवृकामा ' शब्दका अर्थ ' देवरकी कामना करनेवाली ' केवल इतनाही किया था । बीचमें ' अर्थात् ' शब्द डालकर अर्थका अनर्थ कर दिया । एक ' देवरकी कामना करनेवाली ' दूसरे ' नियोगकी भी इच्छा करनेहारी ' याने एक अर्थके दो भाग बन गए । ' देवृकामा ' शब्दसे दूसरा भाग निकलना तो असम्भव है । चलो ! यहां कुछ देरके लिए ऐसाही मान लें कि, स्वामीजीनेही दूसरा अर्थ-- ' नियोगकी भी इच्छा करनेहारी'--किया है, परन्तु किया किसके आधारपर है ? यदि स्वामीजी दूसरा अर्थभी करते, तो इसकी पुष्टिमें कुछ न कुछ प्रमाण अवश्य देते ? यहांपर आर्यजीने इस की पुष्टिमें ' देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते ' यह निरुक्तका वचन दिया है । किन्तु स्वामीजीने प्रस्तुत संस्कारविधिमें किसी भी स्थलपर ' देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते ' यह निरुक्त का वचन नहीं दिया, अपितु इसके विपरीत ' भर्तुर्भ्राता नित्यमेव तथा भ्रातृभार्यया देवनार्थम् ' इस निरुक्त वचनानुसार स्वामीजीने संस्कारविधिमें ' देवृवु ' शब्दके अर्थ ' मेरे भाई जो तेरे देवर, ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ है ' (अमरकोषमें भी इसी प्रकार अर्थ है । ' स्वामिनो देवृदेवरौ ' स्वेति। पत्युर्भ्राता पत्न्याः द्वे-- 'पत्युः कनिष्ठभ्रातुः' इति स्वामी।) उक्त प्रकारके प्रकरणानुसार मंगलकारी अर्थही किए है, जो इस विवाह जैसे शुभावसर पर उचितही समझे जाते है । आर्यजी ! क्या आप यह दिखला सकते हैं कि ' देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते ' यह निरुक्त का वचन किसी भी प्रस्तुत संस्कारविधिमें विद्यमान है ? और स्वामीजीने ' देवर--दूसरा वर ' कहलाता है, ऐसा अर्थ किया है ? यदि नहीं दिखला सकते, तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि, संस्कारविधिमें उपर्युक्त--अंश ' नियोगकी भी इच्छा करनेहारी ' ऐसा अर्थ स्वामीजीने नहीं दिया, अपितु अन्यो द्वारा मिलाया गया है ।

आर्यजी कहते हैं कि-- 'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ' यह श्लोक किसी ऋग्वेदके 'देवृकामा' को 'देवकामा ' बनानेवाले जैसेने रचा होगा और इसमेभी एक पक्षपातपूर्ण अत्याचारकी बात कही है इत्यादि ।

आर्यजी ! इसी प्रकार कोई अन्य भी कह सकता है कि, ' विधवेव देवरम् ' यह मंत्र ऋग्वेदके ' देवकामा ' पदको ' देवृकामा ' बनानेवाले जैसेने मिला दिया होगा और इस मंत्रमें भी पक्षपातपूर्ण एक अत्याचार की बात कही गई है । वहां विधवाके शयन को पूछा है, विधुरके शयन को नहीं । जिस मंत्र पर विवाद चल रहा है और इसी जैसे अन्य मंत्रोंमें भी अत्याचारकी बात कही है । वहांपर ' देवरकी कामना ' को तो कहा है, परन्तु स्त्री की कामनाका वर्णन नहीं किया ।

' स्वामीजीने भी दुनयवी-शकुनोंकी प्रथाको ठीक माना है '

' विवाहके शुभावसरपर वेद अमंगलका विधान नहीं करते,' अतएव उस अवसरपर नियोगकी चर्चा करना अमंगल समझा जाता है । एतद्देशीय विदेशीय समस्त जातियां मंगलामंगल ' तथा ' दुनयवी शकुनोंकी प्रथाओं ' को लोकनीतिके अनुसार इनपर विश्वास करती चली आई है । क्योंकि विवाहसस्कारादि शुभ अवसरपर जो-जो टेहले (कृत्य) किए जाते है, वे सबके सब कुलकी सधवा स्त्रियों द्वाराही संमान्य होते है। उस अवसरपर विधवाका आना अमंगल समझा जाता है । परन्तु इस स्थलपर यह जानकर आश्चर्य होगा कि स्वामीजीनेभी लोक-नीतिके अनुसार उपर्युक्त मंगलामंगल एवं दुनयवी शकुनोंकी प्रथाको ठीकही माना है- देखो स्वामीजी इसकी पुष्टिमें प्रस्तुत संस्कार-विधिके पृष्ट १८२ पर क्या लिखते है- **' जब वधू-वरका रथ वरके घरके आगे आ पहुंचे, तब कुलीन, पुत्र-वती, सौभाग्यवती, वा कोई ब्राह्मणी वा अपने कुलकी स्त्री आगे सामने आकर वधूका हाथ पकड-कर वरके साथ रथसे नीचे उतारे-** संस्कारविधिके उपर्युक्त पाठसे यह स्पष्ट विदित होता है कि, स्वामीजी भी विवाहके शुभावसरपर नवविवाहिता वधूके सम्मुख किसी विधवा आदि स्त्रीका आना अमंगलही समझते थे ।

आर्षजीका कथन है कि- फर्ज कर लो कि 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि' यह प्रतिज्ञामंत्र वेदका नहीं है। शादीके नए कानून (Marriage act) का वचन है और जजके सामने पतिकी ओरसे निम्न आशय पढा जा रहा है कि- हे स्त्री! तेरा मेरा विवाह सन्तानोत्पत्तिके लिए हुआ है, किन्हीं कारणोंसे यदि तू मुझसे पुत्रलाभ न प्राप्त कर सके और तू पुत्रोत्पत्तिकी उत्सुक हो, तो 'देवरकी कामना' कर सकती है, उससे पुत्रलाभ ले सकती है। जजके सामने ये वाक्य कहनेसे कोई अमंगल नहीं है। ऐसेही मंत्र और मंत्रार्थ जनसंघमें वेदीपर कहनेसे अमंगल नहीं है, इत्यादि।

'भारतीय 'विवाह-विधान' में नियोगसूचक वाक्य अमंगल समझे गए हैं'।

१. 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि' यह मंत्र वेदका नहीं है, ऐसा फर्ज आपही कर सकते है। समस्त वेदज्ञ इसे ऋग्वेदहीका मंत्र ख्याल करते हैं, क्योंकि यह विवाहप्रकरणमें आया है तथा इसमें विवाहका आदर्श विधान मौजूद है। आर्षजी! यह ध्यान रहे कि, उपर्युक्त विवाहपरक- 'अघोरचक्षुः' मंत्र प्रतिज्ञामंत्र नहीं है। यह तो 'आशीर्वाद' सूचक मंत्र है। जिससे विवाहके शुभावसरपर दोनों पक्षों की ओरसे पुरोहित द्वारा वधू-वर दोनोंको '**वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे**' इस प्रकार आशीर्वाद दिया जा रहा है।

२. एतद्देशीय समस्त हिन्दु, मुसलमान, इसाई आदि जातियोंमें अभीतक उपरोक्त प्रकारकी कुप्रथा जारी नहीं हुई है कि, जिसके द्वारा विवाहके शुभावसरपर जनसाधारणके सामने विवाहवेदीपर वर स्वयं अपने मुखसे नवविवाहिता वधूको संकेत द्वारा उपर्युक्त भ्रष्ट एवं अश्लील शब्दोंको 'यदि मुझसे पुत्रलाभ न हो सके, तो तू नियोगद्वारा दूसरे पतिसे पुत्रलाभ कर सकती है,' प्रयोग करना उचित समझे।

'धार्मिक विवाह-विधान आदर्शरूप है।'

१. धर्मपरायण आर्य-जाति कि जिसका वैदिक विवाह-विधान का आदर्श समस्त विश्वके विवाह-विधानोंसे उच्चतम हो और मंगलकामनाका द्योतक माना गया हो, जिसमें '**अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि वीरसूर्देवकामा**' आदि मंत्रोंद्वारा नवविवाहित दम्पति को जनसाधारणकी ओरसे आशीर्वाद दिया गया हो तथा जिन पवित्र मंत्रोंमें पत्नीव्रतधर्म एवं पतिव्रतधर्मका आदर्श जीवन कूट-कूट कर भरा गया हो, भला! उन विशुद्ध मंत्रोंके वैदिक विधानमें 'दूसरे-पतिकी कामना करनेवाली.' ऐसा अभद्र एवं भ्रष्ट उपदेश का होना सम्भव हो सकता है? कदापि नहीं।

२. विवाह एक धार्मिक-संस्कार है, जिसमें हर्षके साथ सब मंगल कर्म ही होते हैं, किसी प्रकारके अमंगल को तो वहां स्थान ही नहीं है। सन्तानोत्पत्तिके निमित्तही वधूवर दोनों मंगल-विवाह सूत्रमें बंध रहे है। उक्त विवाहबन्धन धार्मिक होनेसे दोनोंके लिए जीवनपर्यन्त अटूट एवं दृढ हो रहे है। उक्त बंधनमेंही दोनोंकी पुत्रोत्पत्ति-कामना निहित है, इसी लिए जनसंघके समक्ष वेदीपर गुरुजन '**सुमंगलीरियं वधूः**' के लिए समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले पतिदेवको प्राप्त करा रहे है। वधू-वर दोनोंके इस शुभ-मिलनको जहां पुरोहितसहित उभयपक्षीय उपस्थित जनता हर्षनाद कर रही है, वहां वधू-वर दोनों भी परस्पर एक दूसरे को प्राप्त करके मनही मन हर्षित हो रहे हैं। जिस मंगलावसर पर चारों दिशाओंमें गाजे-बाजे सहित हर्षनाद हो रहा हो, भला! उस समय पति-देव संस्कार की आरम्भिक क्रियाके मध्यहीमें जनसंघके समक्ष वेदीपर अपनी भावी नव-विवाहिता-पत्नीको- कि जिसका भली प्रकार अभी पाणिग्रहण भी नहीं हुआ-संकेत-द्वारा ऐसे अमंगल सूचक वाक्योंको 'यदि किन्हीं कारणोंसे मैं नपुंसक हो जाऊं या मर जाऊं, तो तू दूसरे-पतिसे पुत्रलाभ कर लेना' स्वयं अपने मुखसे क्या कभी उच्चारण कर सकता है? प्राण जायं पर ऐसा कदापि नहीं कर सकेगा, क्या यह लज्जा की बात नहीं, कि युवक-युवति दोनों जीवित, हृष्ट-पुष्ट तथा सर्व प्रकारसे समर्थ होते हुए भी जनसमूहके सामने अपने आपके लिए अमंगल प्रतिज्ञा कर रहे है 'यदि मैं मर गया, तो तू दूसरा पति कर लेना तथा मैं मर गई, तो तू दूसरी स्त्री कर लेना' वाह! क्या सुन्दर विधान है!!

'नियोग आपत्कालीन धर्म है, अतः स्वामीजीने भी इसे अनिवार्य नहीं समझा'

१. सत्यार्थप्रकाशमें लिखा है कि, स्त्री भी- जो पति धर्मके अर्थ परदेश गया हो तो 'आठ वर्ष' विद्या और कीर्ति के लिए गया हो, तो 'छः वर्ष' धनादिके लिए गया हो तो 'तीन वर्ष' पुरुष भी- वंध्या स्त्री हो 'आठवें' (विवाहसे आठ वर्ष तक स्त्रीको गर्भ न रहे) सन्तान होकर मर जाय, तो 'दशवें'

कन्याही कन्या हो, पुत्र न हो तो ग्यारहवें वर्षतक बाट देखे-- अर्थात् विवाह करनेके बाद इतने वर्षोंके उपरान्त उपाय करनेपर भी यदि सन्तान न हो, तब कहीं जाकर स्त्रीपुरुष दोनोंको वंशादिकी रक्षार्थ परस्पर विचार करना है कि, हमें सन्तान की आवश्यकता है या नहीं ।

२. परन्तु आश्चर्य है कि जनसंघके सामने वेदीपर आतेही, वर महाशय को यह कैसे पता चल गया कि, मैं ' नपुंसक ' हूं और यदि पूर्वसेही नपुंसक थे, तो एक अबला--बालिकाका जीवन नष्ट करनेके लिए वेदी पर उपस्थितही क्यों हुए थे ? यहांपर कोई यह कह सकता है कि - उस समय तो समर्थ थे, किन्तु बाद में ' नपुंसक' हो गए । यदि ऐसा ही है, तो 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे ' इस अमंगलसूचक वाक्यका प्रथमही दिनसे प्रयोग क्यों किया जा रहा है ? क्योंकि उक्त प्रकारकी नपुंसकता का पता तो गृहस्थ भोगनेके कुछ वर्ष पश्चात्ही लग सकता है, तिस परभी विना डाक्टर की परीक्षाके यह भली प्रकार पता लगाना असम्भवसाही है कि, दोनोंमेंसे कौन असमर्थ अर्थात् वंध्या व नपुंसक है। क्योंकि स्वामीजीने भी माना है कि-- दोनोंके रज--वीर्य सम--तुल्य होनेपर सन्तानोत्पत्ति नहीं हो सकती-- पश्चात् सन्तानोत्पत्ति की आवश्यकता अनुभव करना स्त्री- पुरुष दोनों ही की इच्छापर निर्भर है। उपर्युक्त कार्यके लिए उनको मजबूर नहीं किया जा सकता।

नियोगकी विधि नहीं है।

३. मरने आदि किसी भी दशामें स्त्री--पुरुषोंको नियोगद्वारा पुत्रोत्पत्ति करना अनिवार्य नहीं; क्योंकि नियोग का विधान वेदमें नहीं मिलता, यह तो एक आपत्कालको किया है, अतः मंगल कार्य नहीं तथा दोनो की इच्छापर अवलम्बित है। यही कारण है कि, किसी भी आचार्य एवं सूत्रग्रन्थकारोंने नियोगको ' संस्कार ' नहीं माना, अतएव स्वामीजीने भी उक्त नियोगको किसी प्रकारका नहीं माना। यदि स्वामीजी '**नियोग--संस्कार**' मानकर क्रियाविधिसहित उसे संस्कारविधिमें देते, तो क्या कोई रोक सकता था? क्योंकि वे भी तो एक आचार्य थे। परन्तु स्वामिजीने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वे भली प्रकार जानते थे कि--वेद एवं पारस्कर गृह्यसूत्रों-में ' नियोग-संस्कार ' का विधान नहीं है। फिर भला वे उनके विरुद्ध कैसे कर सकते थे, देखो स्वयं स्वामीजी सत्यार्थप्रकाशमें इस प्रकार लिखते है--'स्त्री ब्रह्मचर्यमें स्थित रहकर कन्या व स्त्रीको पढानेका काम कर सकती है, **वंशकी रक्षाके लिए** स्वजातिका लडका गोद ले सकती है--' इत्यादि। इससे सिद्ध है कि नियोग आवश्यक नहीं है।

४. संस्कारविधिके विवाहप्रकरण में अधिक भाग क्रमवार पारस्कर गृह्यसूत्र का ही है कि, जिस मे केवल ऋग्वेदकेही मंत्र है। पर अथर्ववेदका एक भी मंत्र नहीं दिया गया। आर्षजी! यह बात उस समय ऋषि दयानन्द के मस्तिष्क में नहीं उपजी, वरन वे विवाहपद्धति सूत्रग्रन्थोंके आधार पर न रचकर अपनी स्वतन्त्र कल्पनाके आधार पर निर्माण करते अथवा अथर्ववेदके आधार पर। क्या स्वामिजी संस्कारविधि में ऋग्वेदका ' अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि 'वाला मंत्र न देकर अथर्ववेदका ' अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि ' वाला मंत्र नहीं दे सकते थे ? कि जिस मे ' देवृकामा ' पद भी विद्यमान और साथ में ' अघोरचक्षुः' का प्रतिनिधि मंत्र भी मौजूद, किन्तु ऐसा नहीं किया है।

५. स्वामीजीने बडे गम्भीर विवेचनद्वारा संस्कारविधि मे जो ऋग्वेदके ' देवकामा ' वाले पद को दिया है, उस मे एक महत्वपूर्ण रहस्य है और ऋषि की दूरदर्शिता भी इसीसे झलकती है। क्योंकि स्वामीजी ' नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ' मनुके इस श्लोक का आदर करते हुए यह जानते थे कि, विवाह जैसे शुभ व मंगल अवसर पर ' नियोग तथा पुनर्विवाहका विधान नहीं आना चाहिए।' अतएव स्वामीजीने अथर्ववेदका ' देवृकामा ' वाला मंत्र न देकर वहां ऋग्वेदका ' देवकामा ' वाला मंत्रही दिया है।

आर्षजी लिखते है कि- गृह्यसूत्रोक्त विनियोग पीछेका है, वेद पूर्व के है, अर्थात् अथर्ववेदका वैदिक विनियोग उससे ऊपर है, प्रधान है, क्योंकि उस में विवाहसम्बन्धी मंत्र है, इत्यादि।

' ऋग्वेद' का वैदिक-विनियोग सर्व प्रधान एवं ऊंचा है'

१. आर्षजी ! आप यह क्या लिख गए ? क्या आप यह नहीं मानते कि ऋग्वेद भी ' वैदिक विनियोग है ? और इस में भी विवाहसंम्बन्धी मंत्र है ? ' तब तो आश्चर्य है। भाई मेरे ! ऋग्वेद का विनियोग तो अथर्ववेद के विनियोग से भी ऊपर और सर्वप्रधान है। क्योंकि ऋग्वेद अन्य वेदों की अपेक्षा सर्वप्रधान माना गया है और इस में विवाहसम्बन्धी सूक्तके सूक्त भरे पडे है तथा विवाह संस्कार की विधि इसमें स्पष्ट रूपसे पाई जाती है। क्योंकि पारस्कर गृह्यसूत्र के विवाह-

आर्यजीका कथन है कि- फर्ज कर लो कि 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि' यह प्रतिज्ञामंत्र वेदका नहीं है। शादीके नए कानून (Marriage act) का वचन है और जजके सामने पतिकी ओरसे निम्न आशय पढा जा रहा है कि - हे स्त्री ! तेरा मेरा विवाह सन्तानोत्पत्तिके लिए हुआ है, किन्हीं कारणोंसे यदि तू मुझसे पुत्रलाभ न प्राप्त कर सके और तू पुत्रोत्पत्तिकी उत्सुक हो, तो ' देवरकी कामना ' कर सकती है, उससे पुत्रलाभ ले सकती है। जजके सामने ये वाक्य कहनेसे कोई अमंगल नहीं हैं। ऐसेही मंत्र और मंत्रार्थ जनसंघमें वेदीपर कहनेसे अमंगल नहीं है, इत्यादि।

' भारतीय ' विवाह-विधान ' में नियोगसूचक वाक्य अमंगल समझे गए हैं '।

१. ' अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि ' यह मंत्र वेदका नहीं है, ऐसा फर्ज आपही कर सकते हैं। समस्त वेदज्ञ इसे ऋग्वेदहीका मंत्र ख्याल करते हैं, क्योंकि यह विवाहप्रकरणमें आया है तथा इसमें विवाहका आदर्श विधान मौजूद है। आर्यजी ! यह ध्यान रहे कि, उपर्युक्त विवाहपरक- ' अघोरचक्षुः ' मंत्र प्रतिज्ञामंत्र नहीं है। यह तो ' आशीर्वाद ' सूचक मंत्र है। जिससे विवाहके शुभावसरपर दोनों पक्षों की ओरसे पुरोहित द्वारा वधू-वर दोनोंको **' वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे '** इस प्रकार आशीर्वाद दिया जा रहा है।

२. एतद्देशीय समस्त हिन्दु, मुसलमान, इसाई आदि जातियोंमें अभीतक उपरोक्त प्रकारकी कुप्रथा जारी नहीं हुई है कि, जिसके द्वारा विवाहके शुभावसरपर जनसाधारणके सामने विवाहवेदीपर वर स्वयं अपने मुखसे नवविवाहिता वधूको संकेत द्वारा उपर्युक्त भ्रष्ट एवं अश्लील शब्दोंको ' यदि मुझसे पुत्रलाभ न हो सके, तो तू नियोगद्वारा दूसरे पतिसे पुत्रलाभ कर सकती है, ' प्रयोग करना उचित समझे।

' धार्मिक विवाह--विधान आदर्शरूप है। '

१. धर्मपरायण आर्य-जाति कि जिसका वैदिक विवाह-विधान का आदर्श समस्त विश्वके विवाह-विधानोंसे उच्चतम हो और मंगलकामनाका द्योतक माना गया हो, जिसमें **' अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि वीरसूर्देवकामा '** आदि मंत्रोंद्वारा नवविवाहित दम्पति को जनसाधारणकी ओरसे आशीर्वाद दिया गया हो तथा जिन पवित्र मंत्रोंमें पत्नीव्रतधर्म एवं पतिव्रतधर्मका आदर्श जीवन कूट-कूट कर भरा गया हो, भला ! उन विशुद्ध मंत्रोंके वैदिक विधानमें ' दूसरे--पतिकी कामना करनेवाली. ' ऐसा अभद्र एवं भ्रष्ट उपदेश का होना सम्भव हो सकता है ? कदापि नहीं।

२. विवाह एक धार्मिक--संस्कार है, जिसमें हर्षके साथ सब मंगल कर्म ही होते हैं, किसी प्रकारके अमंगल को तो वहां स्थान ही नहीं है। सन्तानोत्पत्तिके निमित्तही वधूवर दोनों मंगल--विवाह सूत्रमें बंध रहे हैं। उक्त विवाहबन्धन धार्मिक होनेसे दोनोंके लिए जीवनपर्यन्त अटूट एवं दृढ हो रहे हैं। उक्त बंधनमेंही दोनोंकी पुत्रोत्पत्ति--कामना निहित है, इसी लिए जनसंघके समक्ष वेदीपर गुरुजन **' सुमंगलीरियं वधूः '** के लिए समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले पतिदेवको प्राप्त करा रहे हैं। वधू--वर दोनोंके इस शुभ-मिलनको जहां पुरोहितसहित उभयपक्षीय उपस्थित जनता हर्षनाद कर रही है, वहां वधू--वर दोनों भी परस्पर एक दूसरे को प्राप्त करके मनही मन हर्षित हो रहे हैं। जिस मंगलावसर पर चारों दिशाओंमें गाजे--बाजे सहित हर्षनाद हो रहा हो, भला ! उस समय पति--देव संस्कार की आरम्भिक क्रियाके मध्यहीमें जनसंघके समक्ष वेदीपर अपनी भावी नव--विवाहिता--पत्नीको-कि जिसका भली प्रकार अभी पाणिग्रहण भी नहीं हुआ-संकेत-द्वारा ऐसे अमंगल सूचक वाक्योंको ' यदि किन्हीं कारणोंसे मैं नपुंसक हो जाऊं या मर जाऊं, तो तू दूसरे--पतिसे पुत्रलाभ कर लेना ' स्वयं अपने मुखसे क्या कभी उच्चारण कर सकता है ? प्राण जायं पर ऐसा कदापि नहीं कर सकेगा, क्या यह लज्जा की बात नहीं, कि युवक--युवति दोनों जीवित, हट्टे--कट्टे तथा सर्व प्रकारसे समर्थ होते हुए भी जनसमूहके सामने अपने आपके लिए अमंगल प्रतिज्ञा कर रहे हैं ' यदि मैं मर गया, तो तू दूसरा पति कर लेना तथा मैं मर गई, तो तू दूसरी स्त्री कर लेना ' वाह ! क्या सुन्दर विधान है !!

' नियोग आपत्कालीन धर्म है, अतः स्वामीजीने भी इसे अनिवार्य नहीं समझा '

१. सत्यार्थप्रकाशमें लिखा है कि, स्त्री भी-- जो पति धर्मके अर्थ परदेश गया हो तो ' आठ वर्ष ' विद्या और कीर्ति के लिए गया हो, तो ' छः वर्ष ' धनादिके लिए गया हो तो ' तीन वर्ष ' पुरुष भी-- वंध्या स्त्री हो ' आठवें ' (विवाहसे आठ वर्ष तक स्त्रीको गर्भ न रहे) सन्तान होकर मर जाय, तो ' दशवें '

कन्याही कन्या हो, पुत्र न हो तो 'ग्यारहवे' वर्षतक बाट देखे-- अर्थात् विवाह करनेके बाद इतने वर्षोंके उपरान्त उपाय करनेपर भी यदि सन्तान न हो, तब कहीं जाकर स्त्रीपुरुष दोनोंको वंशादिकी रक्षार्थ परस्पर विचार करना है कि, हमे सन्तान की आवश्यकता है या नहीं ।

२. परन्तु आश्चर्य है कि जनसंघके सामने वेदीपर आतेही, वर महाशय को यह कैसे पता चल गया कि, मैं ' नपुंसक ' हूं और यदि पूर्वसेही नपुंसक थे, तो एक अबला--बालिकाका जीवन नष्ट करनेके लिए वेदी पर उपस्थितही क्यो हुए थे ? यहांपर कोई यह कह सकता है कि - उस समय तो समर्थ थे, किन्तु बाद में ' नपुंसक' हो गए । यदि ऐसा ही है, तो 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे ' इस अमंगलसूचक वाक्यका प्रथमही दिनसे प्रयोग क्यो किया जा रहा है ? क्योंकि उक्त प्रकारकी नपुंसकता का पता तो गृहस्थ भोगनेके कुछ वर्ष पश्चात्ही लग सकता है, तिस परभी विना डाक्टर की परीक्षाके यह भली प्रकार पता लगाना असम्भवसाही है कि, दोनोंमेसे कौन असमर्थ अर्थात् वंध्या व नपुंसक है। क्योंकि स्वामीजीने भी माना है कि- दोनोंके रज--वीर्य सम--तुल्य होनेपर सन्तानोत्पत्ति नहीं हो सकती-- पश्चात् सन्तानोत्पत्ति की आवश्यकता अनुभव करना स्त्री- पुरुष दोनों ही की इच्छापर निर्भर है। उपर्युक्त कार्यके लिए उनको मजबूर नहीं किया जा सकता।

नियोगकी विधि नहीं है।

३. मरने आदि किसी भी दशामे स्त्री--पुरुषोंको नियोगद्वारा पुत्रोत्पत्ति करना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि नियोग का विधान वेदमें नहीं मिलता, यह तो एक आपत्कालकी क्रिया है, अत. मंगल कार्य नहीं तथा दोनों की इच्छापर अवलम्बित है। यही कारण है कि, किसी भी आचार्य एवं सूत्रग्रन्थकारोंने नियोगको ' संस्कार ' नहीं माना, अतएव स्वामीजीने भी उक्त नियोगको किसी प्रकारका नहीं माना। यदि स्वामीजी '**नियोग--संस्कार**' मानकर क्रियाविधिसहित उसे संस्कारविधिमें देते, तो क्या कोई रोक सकता था? क्योंकि वे भी तो एक आचार्य थे। परन्तु स्वामिजीने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वे भली प्रकार जानते थे कि--वेद एवं पारस्कर गृह्यसूत्रोंमें ' नियोग-संस्कार ' का विधान नहीं है। फिर भला वे उनके विरुद्ध कैसे कर सकते थे, देखो स्वयं स्वामीजी सत्यार्थप्रकाशमें इस प्रकार लिखते हैं--'स्त्री ब्रह्मचर्यमें स्थित रहकर कन्या व स्त्रीको पढानेका काम कर सकती है, **वंशकी रक्षाके लिए** स्वजातिका लडका गोद ले सकती है--' इत्यादि। इससे सिद्ध है कि नियोग आवश्यक नहीं है।

४. संस्कारविधिके विवाहप्रकरण में अधिक भाग क्रमवार पारस्कर गृह्यसूत्र का ही है कि, जिस मे केवल ऋग्वेदकेही मंत्र हे। पर अथर्ववेदका एक भी मंत्र नहीं दिया गया। आर्षजी! यह बात उस समय ऋषि दयानन्द के मस्तिष्क में नहीं उपजी, वरन वे विवाहपद्धति सूत्रग्रन्थोंके आधार पर न रचकर अपनी स्वतन्त्र कल्पनाके आधार पर निर्माण करते अथवा अथर्ववेदके आधार पर। क्या स्वामिजी संस्कारविधि में ऋग्वेदका ' अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि 'वाला मंत्र न देकर अथर्ववेदका ' अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि ' वाला मंत्र नहीं दे सकते थे ? कि जिस मे- ' देवृकामा ' पद भी विद्यमान और साथ में ' अघोरचक्षुः' का प्रतिनिधि मंत्र भी मौजूद, किन्तु ऐसा नहीं किया है।

५. स्वामीजीने बडे गम्भीर विवेचनद्वारा संस्कारविधि में जो ऋग्वेदके ' देवकामा ' वाले पद को दिया है, उस में एक महत्त्वपूर्ण रहस्य है और ऋषि की दूरदर्शिता भी इसीसे झलकती है। क्योंकि स्वामीजी ' नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ' मनुके इस श्लोक का आदर करते हुए यह जानते थे कि, विवाह जैसे शुभ व मंगल अवसर पर ' नियोग तथा पुनर्विवाहका विधान नहीं आना चाहिए।' अतएव स्वामीजीने अथर्ववेदका ' देवृकामा ' वाला मंत्र न देकर वहां ऋग्वेदका ' देवकामा ' वाला मंत्रही दिया है।

आर्षजी लिखते हैं कि- गृह्यसूत्रोंका विनियोग पीछेका है, वेद पूर्व के हैं, अर्थात् अथर्ववेदका वैदिक विनियोग उससे ऊपर है, प्रधान है, क्योंकि उस मे विवाहसम्बन्धी मंत्र है, इत्यादि।

' ऋग्वेद' का वैदिक-विनियोग सर्व प्रधान एवं ऊंचा है'

१. आर्षजी ! आप यह क्या लिख गए ? क्या आप यह नहीं मानते कि ऋग्वेद भी ' वैदिक विनियोग है ? और इस मे भी विवाहसंम्बन्धी मंत्र है ? ' तब तो आश्चर्य है। भाई मेरे ! ऋग्वेद का विनियोग तो अथर्ववेद के विनियोग से भी ऊपर और सर्वप्रधान है। क्योंकि ऋग्वेद अन्य वेदों की अपेक्षा सर्वप्रधान माना गया है और इस मे विवाहसम्बन्धी सूक्तके सूक्त भरे पडे हैं तथा विवाह संस्कार की विधि इसमें स्पष्ट रूपसे पाई जाती है। क्योंकि पारस्कर गृह्यसूत्र के विवाह-

प्रकरण में ऋग्वेद के ही मंत्र आए है अथर्ववेदके नहीं, अतः इसका विनियोग भी प्रधानही समझना चाहिए । यदि अथर्ववेद अपनी सत्ता रखता है, तो ऋग्वेद उससेभी अधिक अपनी सत्ता रखता है ।

२. अब यह तो भली प्रकार सिद्ध हो ही चुका है कि ऋग्वेद मे शुद्ध पाठ '**देवकामा**' ही है ' देवृकामा ' नहीं । अतः विवाहके मंगलावसर पर 'देव' परमात्मा से ' वीरसूः ' वीर पुत्रों की कामना करनेवाली, ऐसा अर्थ करना प्रसंगानुसार उचित ही है ।

आर्षजी का कहना है कि– ' देवृकामा ' का पतिके घर मे देवर रहे, यह लम्बा अर्थ शब्दोंसे नहीं निकलता, केवल खांचातानी है । देवरकी कामना फिर क्या है ?. ' देवृकामा ' का अर्थ ' देवर की कामना करनेवाली ' नियोगसूचक अर्थ ही है । अथर्ववेद की नियोगविधिको कोई हटा नहीं सकता इत्यादि ।

'देवृकामा' का नियोगसूचक अर्थ स्वामीजी आदि किसी विद्वानने नहीं माना–

१. ' अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि ' वाले मंत्रके ' देवकामा ' पदमे ' कामा ' शब्द एक व्यापक–शब्द है । जिसका अभिप्राय मंत्र मे दी हुई कामनाओंकी ओर एक प्रकारका संकेत है । देवरकी कामना वही है कि, जो कामना वीर पुत्रोंके उत्पन्न करनेमे विहित है, यथा-देवकामा, पतिकामा, पुत्रकामा देवर-ज्येष्ठ आदि पारिवारिक-जन-कामा, तथा पशु-पक्षी आदि जीवकामा अर्थात् इनके प्रति यह शुभ भावनाएं हृदय में सदा बनी रहे कि, मेरे पतिगृह मे सबके सब सुखपूर्वक जीवित रहें ।

२. यदि कुछ देरके के लिए ऋग्वेदका पाठ ' देवृकामा ' मान भी लिया जाए, तो ' नियोग की भी कामना करनेहारी ' ऐसा अर्थ किसी दशामे भी नहीं बन सकता । अतएव ऋग्वेद मे ' देवृकामा ' का होना तथा उसका अर्थ नियोगपरक करना युक्ति-युक्त नहीं, इसी प्रकार आर्यसामाजिक विद्वान भी मानते हैं । इसकी पुष्टि मे यहा कुछ प्रमाण देना हम उचित समझते हैं—

३. संस्कारविधिका गुजराती अनुवाद आर्यप्रतिनिधिसभा बम्बईने मुद्रित किया है, और दूसरे वहींके आर्य सामाजिक विद्वान पंडितोंद्वारा इसका अनुवाद मराठीमें भी हुआ है । संस्कारविधिके विवाह-प्रकरणमें आए हुए ' देवृकामा ' वाले मंत्रका ' देवरकी कामना करनेवाली-देवरको सुख देनेवाली ' केवल इतनाही अर्थ उन पुस्तकोंमें किया है नियोगकी भी इच्छा करनेहारी ' यह इतना अधिक अर्थ ' वैदिक यंत्रालय अजमेर ' वाली संस्कारविधिमेंही पाया जाता है, दूसरे स्थानकी अन्य भाषामें मुद्रित संस्कारविधिमें नहीं मिलेगा ।

४. इसके अतिरिक्त स्वामीजीकृत सत्यार्थप्रकारकी साक्षीभी मौजूद है -वैदिक यंत्रालय प्रयागमुद्रित सत्यार्थप्रकाशके तृतीय संस्करणके पृष्ठ ११५ पर 'अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि' अथर्ववेदवाले मंत्रमें ' देवृकामा ' पद आया है, वहांपरभी (वीरसूः) शूर-वीर पुत्रोंको जनने (देवृकामा) देवरकी कामना करनेवाली (स्योना) और सुख देनेवाली पति वा देवरको, ऐसा प्रसंगा-नुसार अर्थ किया है, पर नियोगकी भी इच्छा करनेहारी यह अंश इसमे भी नहीं दिया ।

५. आर्य प्रतिनिधिसभा संयुक्त प्रान्तने सत्यार्थप्रकाश मराठी-भाषामें कोल्हापूर छापकर प्रकाशित किया है, उसमेंभी अथर्व-वेदके मंत्र ' अदेवृघ्न्यपतिघ्न्येहैधि ' मंत्रमे ' देवृकामा ' पद आया है, इसका अर्थ देवरकी कामना पूरी करनेवाली, केवल इतनाही दिया है । शेष अंश ' अर्थात् नियोगकी भी इच्छा करनेहारी' नही दिया ।

६. जिस प्रकार यूरोपियन वेदज्ञ विद्वानोंने ' देवृकामा ' का अर्थ Loving brother-in-low (देवरपर प्रीति करने वाली) ऐसा किया है-- ' नियोगकीभी इच्छा करनेहारी ' किसीने नही किया– ठीक इसी अर्थका अनुवाद आर्यसमाजके प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० चमूपतिजीद्वारा अनूदित तथा आर्य-प्रतिनिधिसभा पंजाबद्वारा प्रकाशित ' उर्दू सत्यार्थप्रकाश ' में ' देवरसे मुहब्बत करनेवाली ' ऐसा श्रेष्ठ अर्थ किया है । जिससे यह भली प्रकार विदित होता है कि, ' कामा ' शब्दका अर्थ ' नियोग ' न होकर ' मुहब्बत--प्रीति ' ही सर्वोत्तम है ।

७. ' देवृकामा ' का शब्दार्थ ' देवरकी कामना करनेवाली ' संस्कारविधिमें भी विद्यमान तथा सत्यार्थप्रकाशमें भी मौजूद एवं स्वामीजीसे लेकर आर्यसामाजिक सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों ने इसी प्रकार माना है । शब्दार्थ तो इसी प्रकार आर्षजीभी मानते हैं, केवल भेद इतनाही है कि, आप उसकी व्याख्या नियोगपरक अर्थोंमें करते हैं; जो किसी वैदिक विद्वानने नहीं की। क्योंकि आपका यह दावा है कि– अथर्ववेदसे नियोगविधिको कोई

हटा नहीं सकता-हटानेकी इसमें तो शक्ति है नहीं और न हम हटा सकते हैं, किन्तु उपर्युक्त प्रमाणोंसे हमें तो यही स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि आर्य समाजके प्रमुख-प्रमुख विद्वानोंके दिलोंमें पूर्वहीसे यह वाक्य खटक रहे थे । इसी कारण विवाह जैसे मंगलावसरपर उक्त नियोगपरक अर्थको इष्ट न समझकर ' चालीस-पैंतालीस ' वर्षोंके पूर्वही निकाल बाहर कर दिया था । परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि, हमारे आर्षजी पुनः इसका ' जीर्णोद्धार ' करना चाहते हैं, जो नितान्त असम्भव है। सुप्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् श्री पं० सातवलेकरजीने अपने वैदिकधर्म मास आक्टूबर सं० १९४२ के अंकमें ' देवृकामा और नियोग ' शीर्षक लेखद्वारा उक्त विषयपर अति उत्तम प्रकाश डाला है, जो द्रष्टव्य है।

आर्षजीका ख्याल है कि- यूरोपमें 'सेन्टपीटर्सबर्ग डिक्शनरी' नामक कोष बहुत काल पूर्व तैयार किया गया था, अतः उक्त डिक्शनरी अति प्राचीन है, यह पंडितजीने भी माना है।

४. **ऋग्वेदही सर्वप्रथम तथा प्रधान पुस्तक है—** वैदिक मंत्रोंमें जहां वेदोंका वर्णन आया है वहांपर प्रथम नाम ' ऋग्वेद ' काही आया है अथर्ववेदका नहीं क्योंकि वह चौथे नम्बरपर है। यद्यपि मनुआदि महर्षियोंने तीनही वेदोंका नाम दिया है अथर्ववेदका नामही नहीं दिया, तथापि उन नामोंमेंभी प्रथम नाम ऋग्वेदकाही आया है। इसी लिए अधिकांश विद्वान् अन्य वेदोंकी अपेक्षा अथर्ववेदको बहुत काल पीछेका रचा मानते हैं। अन्य आश्चर्योंकी भांति स्वामीजीनेभी अपनी पुस्तक का नाम अथर्ववेद आदि भाष्यभूमिका न रखकर '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** ' ही रखना श्रेष्ठ समझा, अतः स्पष्ट प्रकट है कि, स्वामीजीभी ऋग्वेदकोही सर्वप्रथम पुस्तक मानते थे। क्योंकि ऋग्वेदके अनेक मंत्र अन्य वेदोंमें मिलनेके अतिरिक्त उसके सूक्तके सूक्त यजु, साम, अथर्व, तीनों वेदोंमें पाए जाते है, अतः स्पष्ट विदित होता है कि, ऋग्वेदमें तीनों वेदोंमेंसे किसीका एकभी मंत्र नहीं गया, अपितु ऋग्वेदसेही अन्य तीनो वेदोंमें मंत्र गए हैं।

५. अर्षजीभी इस बातसे नकार न करेंगे कि 'ऋग्वेदही सर्वप्रथम पुस्तक ' है, फिर भला ! यह कैसे माना जा सकता है कि ' अथर्ववेदकी भांति ऋग्वेदमेंभी है ' किन्तु ऐसा तो होना सम्भव है कि, ' ऋग्वेदकी भांति अथर्ववेदमेंभी-देवकामा-पदही था, ' इसकी पुष्टिमें और अधिक प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है।

आर्षजीका दावा है कि-ऋग्वेद के मंत्रमें ' देवृकामा ' पाठ और उसके नियोगपरक अर्थको वैदिक-यंत्रालय अजमेरके पंडितोंके सिर श्री पं० सातवलेकरजी का मढना बिल्कुल गलत है। यह मैं उक्त पंडितजीको सुझा देना और उन जैसा माननेवालोंकी आंखे खोल देना चाहता हूं। क्योंकि अजमेरसे पूर्वकी प्रयागमें छपी संस्कारविधिमें ऋग्वेदके मंत्रमें ' देवृकामा ' पाठ है और उसका नियोगपरक अर्थ भी किया है, इत्यादि।

' आर्षजी ! यदि आप पूर्व अपनी आखें खोल लेते, तो उत्तम था '

१. इसी लेखमें पूर्व हमने प्रबल युक्ति-प्रमाणोंसहित उक्त विषयकी भली प्रकार विवेचना कर दी है कि, प्रथम-संस्कारविधिके पृष्ठ ९१ पर ऋग्वेदके मंत्रसंग्रहमें ' **अघोरचक्षुः** ' वाला मंत्र आया है, उसमें शुद्धपाठ ' देवकामा ' ही छपा है। यदि ' देवृकामा ' ही था, तो फिर संशोधन किसका किया गया ? क्या ' देवृकामा ' का अथवा ' देवकामा ' का ? दोनों दशाओंमें संशोधन करना ही यह सिद्ध करता है कि, उस स्थलपर शुद्धपाठ ' **देवकामा** ' ही था और अभीतक मौजूद भी है, एवं नियोगपरक अर्थ भी वहां नहीं है। तनिक आखे उभार कर देखें, तो स्पष्ट नजर आ जाएगा।

२. प्रथम-संस्कारविधिका संशोधन होनेके बावजूद भी प्रयागमुद्रित द्वितीय-संस्कारविधिके पृष्ठ **१३४** पर **शुद्ध** पाठ ' **देवकामा** ' ही छपा है, जो अभीतक वहांपर विद्यमान भी है, तथा उस स्थलपर उसके नियोगपरक अर्थ भी नहीं दिए हैं, अतः शुद्धपाठ होनेके कारणही वह शुद्धा-शुद्धि-पत्र पर भी चढाया नहीं गया। क्योंकि यह सर्व-मत द्वारा मानी हुई बात है कि, ऋग्वेदमें शुद्धपाठ ' **देवकामा** ' ही है, तथा ' देवृकामा ' अशुद्धपाठ है।

३. वैदिक-यंत्रालयवाले पंडितोंके सिर श्री पं० सातवलेकर जीका मढना गलत नहीं, बल्कि सही है। क्योंकि प्रथम-द्वितीय दोनों संस्करणोंमें शुद्ध-पाठ '**देवकामा** ' होनेके बावजूद भी स्वामीजीकी अनुपस्थितिमें अर्थात् मरनेके पश्चात् वैदिक-यंत्रालय अजमेरवालोंने अपने यहा तृतीय-संस्करण छापते समय ऋग्वेदवाले ' अघोरचक्षुः ' मंत्रमें अशुद्धपाठ ' देवृकामा ' छापकर आर्य जनताको एक प्रकारसे धोका दिया है। हम आर्षजीको सुझा देना और उन जैसा माननेवालोंकी आंखे खोल

देना चाहते हैं। क्योंकि वैदिक यंत्रालय अजमेरसे पूर्वकी छपी हुई प्रथम-द्वितीय दोनों संस्करणोंमें शुद्धपाठ **'देवकामा'** ही छपा है और **उसका वहांपर नियोगपरक अर्थ भी नहीं है।'**

४. आर्षजी ! आप यदि पूर्व अपनी आखें खोल लेते, तो दूसरोंकी आखें खोलनेका निर्मूल दावा न करते। आपने तो अपने लेखमें प्राचीन पंडितोंको ' साम्प्रदायिक ऋग्वेदी घोषित करके ऋग्वेदके 'देवृकामा' की 'ऋकार' निकाल कर 'देवकामा' बना देनेका दोष उनके सिर मढकर साहस का काम किया है न ? परन्तु आश्चर्य है कि आपने अपने किसी भी लेखमें दावेके साथ यह प्रकट नहीं किया कि, आप किस स्थानके लिखित व मुद्रित ऋग्वेद-संहिताको शुद्ध व प्रमाणित मानते हैं कि, जिसमें 'देवृकामा' पाठ छपा है; ताकि पता तो चले कि उक्त ऋग्वेदियोंने किस स्थानकी मुद्रित ऋग्वेदकी प्रतिसे 'देवृकामा' का 'ऋकार' निकाल कर घोर पाप किया है।

'श्री पं० विश्वबन्धुजी की सम्मति'

१. श्री पं० विश्वबन्धुजी शास्त्री एक प्रसिद्ध वेदानुसन्धानक विद्वान है। आप लाहौर में विश्वेश्वरानन्द रिसर्च इंस्टीट्यूट खोलकर वेदोंकी खोज कर रहे हैं। आपकी धारणा है कि, वैदिक-यंत्रालय अजमेर के मुद्रित ऋग्वेदको छोड किसी भी अन्य ऋग्वेद में 'देवृकामा' पद नहीं है। आपने बडे खोजपूर्ण परिश्रमद्वारा वेद तथा ब्राह्मणोंकी 'पदसूची' छापकर तैयार की है। उसमें आपने ऋग्वेदका शुद्धपाठ **'देवकामा'** ही छापा है।

इतने प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ कि, ऋग्वेदका पाठ **'देवकामा'** ही है।

(संपादकीय टिप्पणी)

इतने प्रमाणोंसे निम्नलिखित बाते सिद्ध हुई है—

१. ऋग्वेदके १०।८५।४४ **' अघोरचक्षु '** वाले मंत्रमें **' देवकामा '** ही पाठ है। श्री स्वामिजीने अपनी प्रथम संस्कारविधिमें यही ' देवकामा ' पाठ मानकर उसका अर्थ भी नियोगरहित किया था।

२ प्रथम संस्कारविधिमें मुद्रित अनेक नियोगपरक मंत्रोंको द्वितीय वारकी संस्कारविधिमें स्थान भी नहीं दिया। इससे सिद्ध होता है कि, श्री स्वामीजी विवाहके मंगल संस्कारमें नियोग-मंत्रोंका उच्चारण करना भी उचित नहीं समझते थे। ऐसा उनका मत न होता, तो वे नियोगके सब मंत्र द्वितीय वारके मुद्रणमें रखते। पर वैसा हुआ नहीं।

३. संस्कारविधिमें **' नियोगकी विधि '** नहीं है। तथा **' गोद लेने'** को भी श्री स्वामिजीने माना है। इसलिये नियोग अनिवार्य नहीं है। संतान न होनेपर भी स्त्रीपुरुष **' आजन्म ब्रह्मचारी रहेंगे '** तो वे स्वामीजीके मतसे श्रेष्ठ होंगे। दूषणीय नहीं होंगे। इसलिये प्रत्येक विवाहसंस्कारमें **' वधूवर नियोगकी भी इच्छा करता रहे, '** ऐसा जो अजमेर वै. यं. मुद्रित संस्कारविधिमें छपा है, वह अयोग्य है।

४. विवाहसंस्कारमें नियोगका उच्चारण करनेका निषेध मनुस्मृतिमें किया है। किसी गृह्यसूत्रकारने विवाहमंत्रोंमें नियोग-मंत्रोंको लिखा नहीं है। इसलिये ऋग्वेदका पाठ अशुद्ध छापना और उसका अशुद्ध अर्थ– अर्थात् नियोगपरक अर्थ करना, यह दोनों अयोग्य हैं।

५. कौन वधु-वर ऐसे हैं कि जो विवाह वेदीपर हवनाग्निके सामने खडे होकर कहेंगे कि, ' हे स्त्री ! तू नियोगकी इच्छा करनेवाली हो !' और ' हे पति ! तू नियोगकी इच्छा करनेवाला हो !' क्या कोई ऐसे मातापिता हैं और क्या कोई ऐसे पुरोहित भी हैं कि जो अपने पुत्र या पुत्रीसे इस तरह प्रतिज्ञा विवाहसंस्कारमेंही करवायेंगे ?

जितना विचार किया जाय, उतना स्पष्ट हो जाता है कि, अजमेर वैदिक यंत्रालयमें मुद्रित संस्कारविधिमें यह अशुद्ध मुद्रित हुआ है, जिसको अति शीघ्र शुद्ध करना आवश्यक है।

वैदिक स्वप्नविज्ञान ।

(४)

(लेखक- श्री० पं० भगवद्दत्त वेदालंकार, गुरुकुल, कांगडी)

शरीर में यम का एक स्थान कृकाट [गर्दन] हम देख चुके हैं । इस प्रकार कृकाट [गर्दन] आदि यमस्थानों के अधीन शरीर की जितनी शक्तियां पालन पोषण आदि का कार्य कर रही हैं, वे सब पितर कहला सकती हैं। शरीर में वे कौनकौनसी शक्तियां हैं, जो पितर कहला सकती हैं, यह तो आप के सामने फिर कभी रखा जायेगा। उदाहरण के रूप में कुछ संकेत किये देते हैं। जिस प्रकार मानवसमाजकी क्षत्रशक्ति और वैश्यशक्तिको शत. ७।१।१।४ में "**क्षत्रं वै यमो विशः पितरः**" इस प्रकार यम और पितर में विभक्त किया है, इसी प्रकार मानवीय शरीर के विभाग किये जा सकते हैं । इस आधार पर हमारा उदर वैश्य है और वह पितरस्थानीय है। उदर में जो आमाशय (stomach), क्षुद्रान्त्र (Small Intestine), बृहदन्त्र (Large Intestine), ग्रहणी (Duodenum), यकृत् (Liver), अग्न्याशय (Pancreas) आदि शक्तियां भोजन को रसादि में परिवर्तित कर देती हैं, ये सब हमारे शरीर में विद्यमान पितर हैं। उदर में अपने आसनों पर विराजमान हुए हुए पितृयज्ञ कर रहे हैं ।

इन के सम्बन्ध में ब्राह्मण प्रन्थों में कहा है कि, "**ऊष्मभागा हि पितरः**" (तै. १।३।१०।६) अर्थात् शरीर का जो अग्न्याशय आदि ऊष्मभाग है, वह पितर कहलाता है, इसी प्रकार "**हरणभागा हि पितरः**" (तै. १।३।१०।७) अर्थात् रसादि को हरण करनेवाले रसाङ्कुरिकायें (Villi) आदि भी पितर हैं, और "**ह्रीका हि पितरः**" (तै. १।३।१०।६) अर्थात् संकोच विकासवाले अवयव पितर हैं। जब भोजन अन्दर आमाशय में आता है, तब उस में संकोच-विकास प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अथवा जब भोजन आमाशय में आता है, तब वह विकसित हो जाता है और जब वह आमाशय से बाहिर आ जाता है, तब वह संकुचित हो जाता है। "**ह्रीका**" शब्द का धात्वर्थ के आधार पर जो लज्जाशीलता अर्थ है, उस के लज्जाशीलता में भी यही संकोच और विकास प्रक्रिया हो रही होती है। शर्मीले चेहरे पर यह संकोच-विकास प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। और फिर यजु. २।३२ में भी कहा है कि '**नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय०**" अर्थात् 'हे पितरो ! तुम्हारा रस बनाने और उस को शोषण कर लेने की प्रक्रिया के लिये नमस्कार हो । '

अगले मन्त्र में कहा कि, "**आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥**" अर्थात् 'हे पितरो ! पुष्टिकारक वीर्य को पैदा करनेवाली अपनी उदराग्नि को अपने गर्भ में धारण करो, जिस से कि यह पुरुष स्थिर रहे ।' अगले मन्त्र में कहा कि, "**ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परि स्रुतम् । स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ।**" अर्थात् अमृत, घृत, पय, कीलाल से युक्त तथा ऊर्जवाली स्वधा है, वह मेरे पितरो को तृप्त करे । '

आगे ब्राह्मण ग्रंथों में इन पितरों की दिशा के सम्बन्ध में ही क्या कहा है, इस पर विचार कर लेना चाहिये । वैसे तो "**अवान्तरदिशो वै पितरः**" अर्थात् पितरों की अवान्तर दिशाएँ हैं। ऐसे हि दिशा के सम्बन्ध में और भी बहुत कुछ कहा गया है। विस्तार से तो इनके सम्बन्ध में हम फिर लिखेंगे। परन्तु पितरों की जो मुख्य दिशा दक्षिण दिशा बतायी गई है, उस पर कुछ विचार करते हैं। षड्विंश ब्राह्मण ३।१ में कहा है कि, "**पितॄणां वा एषा दिग् दक्षिणा**" अर्थात् यह दक्षिण दिशा पितरों की दिशा है।

इस का क्या भाव है ? इसको तै. १।६।८।५ में स्पष्ट कर दिया है। वहां आता है कि "**दक्षिणावृद्धि पितॄणाम्**" अर्थात् पितरों का दाक्षिण की ओर को झुकाव है, प्रवाह है। श. १३।७।२।७ में भी ऐसा ही कहा है कि, "**दक्षिणाप्रवणो हि पितृलोकः**" पितृलोक का

दक्षिण की ओर को झुकाव है। आप शरीर में उपर्युक्त उदर के अंगों पर विचार कीजिये। प्रायः सम्पूर्ण अंग शरीर के दक्षिण में हैं और सब का प्रवाह दक्षिण की ओर को है।

इसी प्रकार प्रजोत्पत्ति करनेवाले अवयवों का परिगणन भी पितरों में समझना चाहिये और दूसरे लोकमें जो यह बात प्रसिद्ध है कि, ब्राह्मणोंको खिलानेसे वह भोजन पितरों के पास पहुंच जाता है, पता नहीं, वह पहुंचता है कि नहीं पहुंचता। परन्तु इस शरीर के क्षेत्र में मुखरूपी ब्राह्मणद्वारा खिलाया हुआ भोजन पितरों के पास तो अवश्य पहुंच जाता है। हमारे शरीरमें इस उदरके लिये ही पिण्डोदक-क्रिया सम्भव है। पिण्डोदक का ग्रहण शरीर में उदर ही करता है। इस प्रकार शरीरान्तर्गत पितरों के सम्बन्ध में हमने कुछ विचार करने का प्रयत्न किया। इनका विस्तृत विवेचन फिर कभी आप के सामने रखा जायगा।

शरीर की इन दोनों देवशक्ति व पितृशक्ति के कारण ही मनुष्य को स्वप्न आया करते हैं। इन शक्तियों की न्यूनता व निकृष्टता में बुरे स्वप्न आते हैं और स्वस्थता तथा श्रेष्ठता में भद्र स्वप्न आते हैं। मन्त्र कहता है कि, स्वप्नगत वार्तालाप को शरीर की ये दोनों शक्तियां नहीं जान रही होतीं।

आगे मन्त्रार्थमें यह कहा गया है कि, वरुणसे अनुशिष्ट अर्थात् आज्ञा पाये हुए आदित्य स्वप्न को त्रित आप्त्य में आधान कराते हैं। राष्ट्र-पक्ष में वरुण पापियों तथा दुष्टों को पकडनेवाला है। आदित्य (**ऋतावान. ऋतजाता ऋतावृधः**) ऋतवाले, ऋत में पैदा हुए और ऋत में बढनेवाले या ऋत को बढानेवाले हैं। आदित्य ऋत अर्थात् प्रकृति में विचरते हैं, नये नये ज्ञान का अन्वेषण करते हैं। और त्रित आप्त्य की व्याख्या आगे की गई है। त्रित आप्त्य का यहां पर भाव यह है कि, तीनों लोकों में व्याप्त होता हुआ भी वह परमात्मा आप्त पुरुषों में ही प्रकट होता है। अथवा दूसरा अर्थ यह है कि, मेधा में तीर्णतम तथा आप्त पुरुषों की श्रेणी में गिना जानेवाला श्रेष्ठ मनुष्य। इस आधार पर मन्त्र का भाव यह हुआ कि, वरुण दुःस्वप्न लेनेवालों को पकडता है और सब प्रकार की प्रकृति का अन्वेषण करनेवाले आदित्यों को आज्ञा देता है कि, 'तुम इस स्वप्न लेनेवाले व्यक्ति के स्वप्न को त्रित आप्त्य परमात्मा में आधान करा दो।' अर्थात् वह व्यक्ति सदा परमात्मा के ही स्वप्न लिया करे। अथवा इस मनुष्य में वह लगन पैदा कर दो जिस से कि, वह अपने को मेधा में सर्वश्रेष्ठ बनने तथा आप्त पुरुषों के श्रेणी में आने के लिये स्वप्न लेने लगे।

इस मन्त्र में भी यही बताया गया है कि, मनुष्य की स्वप्नावस्था को नहीं बदलना। परन्तु उस की दिशा बदलनी है। किसी मनुष्य की प्रकृति को बदलना बहुत कठिन है। यदि उसमें कुछ परिवर्तन भी किया जा सकता है, तो प्रकृति में विचरनेवाले आदित्य व्यक्ति ही कर सकते हैं और वे भी बुरी सामग्री के स्थान पर अच्छी सामग्री लाकर रखते हैं। शरीर के क्षेत्र में वरुण सदस-द्विवेकबुद्धि (Conscience) को भी कह सकते हैं। यह बुद्धि दुःस्वप्नों को पकड कर आदित्यरूपी दिव्य भावों को यह आज्ञा देती है कि, मनुष्य के स्वप्नको त्रित आप्त्य में आधान करो। अभी यह विषय विचारणीय है।

यस्य क्रूरमभजन्त दुष्कृतोऽस्वप्नेन सुकृतः पुण्यमायुः। स्वर्मदसि परमेण बन्धुना तप्यमानस्य मनसोऽधि जज्ञिषे ॥ (अ. १९।५६।५)

"(दुष्कृतः) दुष्कर्म करनेवाले पापी लोग (यस्य क्रूरमभजन्त) जिस स्वप्न की क्रूरता अथवा उस के क्रूर फल का सेवन करते हैं। (सुकृतः) उत्तम कर्म करनेवाले पुण्यशाली लोग (अस्वप्नेन) स्वप्न-विनाश के द्वारा (पुण्यमायुः) पुण्य को प्राप्त करते हैं।"

(**ज्ञानी पुरुषों में**) हे श्रेष्ठ स्वप्न! तू (तप्यमानस्य मनसः) तप्यमान मन से (अधिजज्ञिषे) पैदा होता है। और (परमेण बन्धुना) अपने उच्च कोटि के बन्धुत्व के गुण से (स्वः मदसि) दिव्य आनन्द व दिव्य प्रकाश को प्रफुल्लित व विकसित करता है।

(**दुष्ट पुरुषों में**) हे दुःस्वप्न! तू (तप्यमानस्य मनसः) रागद्वेषादि द्वारा सन्तप्त मन से (**अधिजज्ञिषे**) पैदा होता है और (परमेण बन्धुना) अपने सब से बडे बन्धन-गुणसे (स्वः मदसि) स्वको मलिन कर देता है।

इस उपर्युक्त मन्त्र में मनुष्य की दो तीन अवस्थाओं की ओर निर्देश किया गया है। एक तो दुष्ट कर्म करने-

वाले मनुष्य हैं जो कि दुष्ट कर्म करने के कारण भयंकर भयंकर स्वप्नों तथा उन के दुष्परिणामों को प्राप्त करते हैं। दूसरे उत्तम कर्म करनेवाले पुण्यशाली (कर्मयोगी) मनुष्य हैं जो कि स्वप्नावस्था से नितान्त दूर हैं। तीसरे वे ज्ञानी मनुष्य हैं जो कि स्वप्नावस्था द्वारा दिव्य ज्ञान का आविर्भाव करते हैं। चौथे वे साधारण मनुष्य हैं जो कि रातदिन रागद्वेषादि में पड़े रहने के कारण स्वप्न में ही विचरते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र में - दो प्रकार की स्वप्नावस्था बतायी है, एक भद्र दूसरी अभद्र। भद्र स्वप्नावस्था से ज्ञान की वृद्धि होती है और अभद्र अवस्था से ज्ञान मलिन होता है और विनष्ट होता है।

विद्म ते सर्वाः परिजाः पुरस्ताद् विद्म स्वप्न यो अधिपा इहा ते। यशस्विनो नो यशसेह पाह्याराद् द्विषेभिरप याहि दूरम्।

(अथर्व. १९।५६।६)

"हे स्वप्न! हम (ते) तेरे (सर्वाः परिजाः) सब परिणामों को (पुरस्ताद्) पहले ही (विद्म) जानते हैं। और हे स्वप्न! (इह ते यः अधिपाः) जो तेरा अधिपति है, उसको भी हम (विद्म) जानते हैं। हे श्रेष्ठ स्वप्न! (इह) इस संसार में (नः यशस्विनः) हम यशस्वियों की तू (यशसा पाहि) यश के द्वारा रक्षा कर। और (द्विषेभिः) जो हमारे शत्रु हैं, उन से तू (आराद् दूरं अप याहि) दूर से भी दूर चला जा।"

इस मंत्र के पूर्वार्ध में अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के स्वप्नों के सम्बन्धमें कहा गया है। और उत्तरार्ध में अच्छे स्वप्न का वर्णन किया गया है। मन्त्र के पूर्वार्ध में "**पुरस्तात्**" शब्द से यह निर्देश किया गया है कि, स्वप्न चाहे भद्र हो या अभद्र हो, उस के अधिपति अर्थात् पूर्ववर्ती कारणों और उन के परिणामों का पहले ही मनुष्य को ज्ञान होना चाहिये। प्रत्येक माता, पिता व आचार्य आदि का यह कर्तव्य है कि, वे बच्चे को प्रारम्भ से ही ऐसी शिक्षा देवें, जिससे बच्चे को कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान हो। वह अच्छे व बुरे में विवेक कर सके। यदि किसी न्यूनता के कारण बुरे स्वप्न प्रविष्ट भी हो जावें, तो उसे यह ज्ञान होना चाहिये कि, इन बुरे स्वप्नों के अधिपति कौन हैं? इस प्रकार वह पहले तो बुरे स्वप्नों में फंसेगा ही नहीं और यदि किसी कारण वह बुरे स्वप्नों में फंस ही जाय, तो अधिपति अर्थात् पूर्ववर्ती कारणों को अपने में से दूर कर के आसानी से दुःस्वप्नों से दूर हो सकता है। आगे उत्तरार्ध में यह कहा कि, हमें सदा ऐसे स्वप्न लेना चाहिये, जिस से हमारा यश हो।

अ. ६।४६।१ में स्वप्न की उत्पत्ति, स्वरूप तथा माता पिता के सम्बन्ध में कुछ और भी निर्देश मिलता है। मन्त्र इस प्रकार है–

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न। वरुणानी ते माता यमः पितारुर्नामासि।

'हे स्वप्न! तू न तो जीवित है और न ही मृत है। और देव अर्थात् इन्द्रियों का तू कभी न मरनेवाला गर्भ है। वरुणानी तेरी माता है और यम तेरा पिता है, और तू अररु नामवाला है।'

उपर्युक्त मन्त्र में स्वप्न के स्वरूप तथा उसकी उत्पत्ति आदि का वर्णन बहुत ही गूढ शब्दोंद्वारा किया गया है। मन्त्र में कहा है कि हे स्वप्न! तू न तो जीवित है और न ही मृत है। दुनियां में हम देखते हैं कि अतिस्थूल से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म कीटाणु तक सब चेतन प्राणी जीवन धारण करते हैं और फिर कालान्तर में मर भी जाते हैं। जीवन और मृत्यु प्रत्येक चेतन के साथ लगी हुई है। और दूसरे चेतन प्राणी एक बार उत्पन्न होकर मृत्युपर्यन्त निरन्तर बने रहते हैं। और वे दृष्टिगोचर भी किये जा सकते हैं। परन्तु स्वप्न के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह चेतन प्राणियों की तरह सदा जीवन धारण किये हुए नहीं दिखाई देता। और न ही दृष्टिगोचर होता है, केवल उसकी स्मृति होती है कि इस इस प्रकार का स्वप्न दिखाई दिया। इसलिये मन्त्र में कहा है कि "**न जीवोऽसि**" अर्थात् हे स्वप्न! तू चेतन प्राणियों की तरह जीवित नहीं है। और फिर यह भी नहीं कह सकते कि वह मर गया है, क्योंकि कुछ काल के व्यवधान के पश्चात् वह फिर अपना कार्य करता दीखता है। कई स्वप्न तो ऐसे होते हैं जिन की श्रृंखला अनेकों रात्रियों तक चलती है। पहली रात्रि को स्वप्न जहाँ समाप्त हुआ अगली रात्रि को फिर वहीं से शुरु हो जाता है। इस प्रकार कई स्वप्न

अनेकों रात्रियों तक चलते हैं। क्योंकि दिन में वे दिखाई नहीं देते इसलिये उनके सम्बन्ध में यह कहना कि वे मर गये यह ठीक नहीं।

इसलिये वेद में कहा कि 'हे स्वप्न! तू न तो जीवित है और न मृत है।' तो फिर प्रश्न उठता है कि यदि स्वप्न न तो जीवित हो न मृत हो तो फिर वह कैसा होगा? इस पर वेदने कहा कि "देवानाममृतगर्भोऽसि" अर्थात् 'हे स्वप्न! तू देवताओं अर्थात् इन्द्रियों का अमृत-गर्भ है।' जब तक मन और इन्द्रियां विद्यमान हैं, तब तक स्वप्न भी अवश्य आते रहेंगे। इसलिये स्वप्न सदा इन्द्रियों के गर्भ में विद्यमान रहते हैं। वे मरते नहीं। और फिर स्वप्न मन की लीला होनेके कारण जब तक मन अमर है, तब तक वह भी अमर रह सकते हैं। कई स्वप्न पिछले जन्म की घटनाओं से सम्बन्ध रखते हैं। उसका कारण यह है कि मन अमर है। पिछले जन्मों में मन पर पड़े संस्कार रात्रि में स्वप्न के रूप में हमारे सामने आ खड़े होते हैं। वेदने शिव-संकल्प के सूक्तों में मन की महिमा दर्शाते हुए कहा कि "ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु" (यजु.) अर्थात् यह प्रजाओं के अन्दर ज्योतिरूप मन अमर है। इसलिये वेदने अलंकाररूप में कह दिया कि "देवानाममृतगर्भोऽसि" अर्थात् 'हे स्वप्न! तू देवताओंका ऐसा गर्भ है, जो कि कभी मरता नहीं।'

आगे अगले मन्त्रार्थ में कहा कि "वरुणानि ते माता यमः पितारर्रुर्नामासि" अर्थात् 'हे स्वप्न! वरुणानी तेरी माता है और यम पिता है और तेरा अररु नाम है।'

वरुणानी किसे कहते हैं, यह हम अन्यत्र दर्शा चुके हैं। दुष्टों व पापी मनुष्यों में वरुण के भय के कारण जो मनोवृत्ति पैदा होती है, उसको वरुणानी नाम से कहा गया है। यह वरुणानी मनोवृत्ति दुःस्वप्न्यों की जननी है। वरुण दुष्ट व पापी मनुष्यों को पकड़ कर यम के सुपुर्द करता है। वरुणानी से उत्पन्न जो दुष्वप्न्य हैं, वे यम अर्थात् मृत्यु के भय से और भी वृद्धि को प्राप्त होते हैं, पलते हैं और परिपुष्ट होते हैं, इसलिये यम को दुष्वप्न्यों का पालक व पोषक होने के कारण उनका पिता कह दिया गया है। अथवा मृत्यु का भय न भी हो तो भी कैदखाने में पड़े हुए मनुष्य में आत्मिक व शारीरिक क्षीणतायें आ जाती हैं। इसलिये मनुष्य क्षीण होकर दुष्वप्न्यों का और भी शिकार बन जाता है। अपराधी मनुष्यों को मृत्यु तथा कैदखाने आदि का दण्ड देना यम का कार्य है। इसलिये यम दुष्टों में दुस्वप्न्य की वृद्धि, पुष्टि आदि करने के कारण दुष्वप्न्यों का पिता कहलाता है।

अब अन्त में स्वप्न के सम्बन्ध में मन्त्र में कहा कि "अररुर्नामासि" अर्थात् हे स्वप्न! तेरा अररु नाम है। अररु किसे कहते हैं, यह शतपथ ब्राह्मण में अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है। शत. १।२।२।१७ में आता है कि- "अररुर्ह वै नामासुरःरक्षसमास तं देवाः अस्याः (पृथिव्याः) अपाघ्नत।" अर्थात् अररु नाम असुर राक्षस का है। देवताओंने उसे इस पृथ्वी से मार भगाया। अर्थात् अररु असुर राक्षस है, हिंसक है। इसलिये यह स्वप्न अररु नाम से असुर है, राक्षस है, हिंसक है। दिव्य भावों ने इसे शरीर रूपी पृथिवी से मार भगाया।

दुस्वप्न्य विनाश का एक साधन। उषा।

१६ वें काण्ड के ५ वें सूक्त में बुरे स्वप्नों के निवारणके लिये सरलतम उपाय यह बताया गया है कि हम बुरे स्वप्नों के स्थान पर अच्छे स्वप्न लेने लगें। इसका परिणाम यह होगा कि हम शनैः शनैः बुरे स्वप्नों पर विजय प्राप्त कर लेंगे।

परन्तु प्रश्न यह है कि अच्छे स्वप्नों का स्वरूप क्या है? और वे बुरे स्वप्नों पर किस प्रकार विजय प्राप्त कर सकते हैं? इन सब बातों पर छठे सूक्त में प्रकाश डाला गया है। "दुष्वप्न्य-नाशन" के साथ उषा भी इस सूक्त का देवता माना गया है। उषा को इस सूक्त का देवता मानने के दो भाव हो सकते हैं। एक तो यह कि दुष्वप्न्यरूपी शत्रु पर विजय की प्रभात-वेला का चित्र खींचा गया प्रतीत होता है। क्योंकि विजय का उषःकाल पूर्ण विजय का विश्वास दिलानेवाला होता है। विजय की उषा नीहार कर मनुष्य और भी उत्साहित होकर पूर्ण विजय को प्राप्त कर लेता है।

इसलिये शत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिये इस विजय के उषःकाल में हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये-

यह प्रथम मन्त्र में संक्षेप में दिखा दिया है, जो कि इस प्रकार है- "अजैष्म" अर्थात् सब से प्रथम अपने अन्दर विजयी भावना पैदा करना। दूसरे "असनाम" शत्रुपर विजय के लिये शक्ति सञ्चय करना। तीसरे "अनागसः" अपनी न्यूनताओं को दूर करना। दुष्वप्न्यरूपी शत्रु को पूर्णतया विनष्ट करनेके लिये सबसे प्रथम हमें अपने अन्दर यह संकल्पबल पैदा करना चाहिये कि, हमने दुष्वप्न्यरूपी शत्रु पर अवश्य विजय प्राप्त करनी है।

यह संकल्पबल तभी पैदा हो सकता है और स्थिर रह सकता है, जब कि हम "असनाम" पूर्ण शक्तिसञ्चय कर लें। शत्रु पर विजय के लिये जो भी साधनसामग्री आवश्यक है, वह जुटा लें। तीसरे अपनी कमजोरियों पर भी दृष्टिपात कर लें। ऐसी हम में कोई भी कमजोरी नहीं होनी चाहिये, जिससे शत्रु को प्रहार करने का अवसर मिल जाये। इस प्रकार रणसज्जा करके विजय की उषाका ध्यान करते हैं, और उत्साहभरित हो यह प्रार्थना करते हैं कि, हे उषा! जिस दुष्वप्न्य से हम डरते हैं, वह हमसे दूर हो जाये। इस प्रकार की भावना मनुष्य में उत्साह व संकल्प बल को पैदा करनेवाली होती है, जिससे मनुष्य आसानी से शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उषा को विजय की उषा मानकर इस सूक्त की व्याख्या की जा सकती है।

दूसरा भाव उषा का सामान्य प्राकृतिक उषा से लिया जा सकता है। हमने इस सूक्तमें मुख्यतया उषासे सामान्य, प्राकृतिक उषा का ही ग्रहण किया है। और इस उषाकाल के द्वारा दुष्वप्न्यों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है- यह दिखाने का प्रयत्न किया है।

इससे पहले कि हम उषासे सम्बन्ध रखनेवाले दुष्वप्न्य-सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या आपके सामने रक्खें-यह देखना आवश्यक है कि उषा किस प्रकार दुष्वप्न्यों को दूर कर सकती है।

एक तो रात्रिमें होनेवाले दुष्वप्न्य रात्रि के प्रायः पिछले प्रहर में आते हैं१ इस प्रकार प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठनेवाले व्यक्ति इन दुष्वप्न्यों से बच सकते हैं। दूसरे उषाकाल में मनुष्य ही अपितु सभी प्राणियों की प्रकृति शान्त होती है, और उस समय सात्त्विक प्रकृति अन्य समयों की अपेक्षा ज्यादः प्रबल होती है। इसलिये दिवास्वप्नों को दूर करने का भी यह सर्वोत्कृष्ट समय है। पाप व दुष्वप्न्यादि दुर्गुण अन्धेरे में ज्यादः प्रबल होते हैं। उषा उनको हमारे समक्ष प्रकाश में ला देती है। इसलिये उषा अन्तर्निहित दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को प्रकाश में लाकर उनको विनष्ट करने में सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिये उषा से दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करने की प्रार्थना की गई है। वेद में भी उषा के बहुत गुण गाये गये हैं। क्योंकि वेद में ज्ञान तथा प्रकाश को बडा महत्त्व दिया गया है। वेद नाम ही इस बात को सिद्ध कर रहा है कि वेद ज्ञान व प्रकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसलिये वेद की दृष्टि में जो पदार्थ प्रकाशस्तम्भ का कार्य करते हैं, वे सर्वोत्कृष्ट देव हैं। उषा भी प्रकाश का सन्देश लानेवालों में सब से प्रथम आती है, और सब को जगाती है। जैसा कि मन्त्रमें भी कहा है कि "ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती" ऋ. १।९२।५ अर्थात् सम्पूर्ण भुवनों को वह उषा ज्योति दिखाती है। ऋ. १।९२।९ में मन्त्र में भी उषा को ज्ञान व प्रकाश के फैलाने में बहुत ऊंचा स्थान दिया है, मन्त्र इस प्रकार है-

विश्वानि देवी भुवनाभिचक्ष्या प्रतीची चक्षुरुर्विया विभाति। विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः॥

अर्थात् दिव्य प्रकाशयुक्त वह उषा समस्त लोकों को प्रकाशित करके पूर्व से पश्चिम को जाती हुई महान् सूर्य से प्रकाशित होती है। और समस्त प्राणिमात्र को चलनेफिरने तथा कार्यव्यवहार करने के लिये जगाती हुई समस्त मननशील भक्त व ज्ञानज्येष्ठ विद्वानों की स्तुति को प्राप्त करती है।

इस उपर्युक्त मन्त्र में उषा को समस्त लोकों को प्रकाश दिखानेवाली तथा उनके कार्यव्यवहार के लिये उन को जगानेवाली बताया है। और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि, मननशील व भक्त पुरुष प्रातःकाल परमात्मा की स्तुति करते हैं। उनकी वाणी पवित्र भावना से ओतप्रोत होती है। इसलिये ज्ञान व प्रकाश को सर्व प्रथम सर्वत्र फैलानेवाली होने के कारण अन्धकार व अज्ञान में प्रबल होनेवाले दुष्वप्न्यादि दुर्गुणोंपर सब से प्रथम वह उषा ही प्रहार करती है।

दूसरे अभूति आदि से होनेवाले दुष्वप्नों के दूर करने में भी यह उषा बहुत सहायक है। क्योंकि यह उषा हमें अन्न प्रदान करती है। एक मन्त्र में कहा गया है कि-

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति।
येन तोकं च तनयञ्च धामहे। (ऋ. १।९२।१३)

अर्थात् ऐश्वर्य तथा अन्न प्रदान करनेवाली हे उषा! तू हमें संग्रह करनेयोग्य नाना भांति के ऐश्वर्य तथा अन्न प्रदान कर, जिस से हम पुत्रों तथा पौत्रों का पालन कर सकें।

इस मन्त्र में उषा को 'वाजनीवती' अर्थात् अन्नादि ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली बताया है। ऊपर के मन्त्रमें हमने उषा का ज्ञान व प्रकाश को देनेवाला स्वरूप दिखाया था। अब यहां इस मन्त्र में उषा का अन्न को देनेवाला रूप बताया गया है। प्रातःकाल आती हुई उषा ज्ञान व प्रकाश को ही नहीं देती, अपितु वनस्पति, ओषधि तथा अन्य प्राणियों को जीवनरस भी प्रदान करती है। इसलिये उषा से प्रार्थना की है कि, हे उषा तू अन्न प्रदान करती है, आ! और इन वनस्पति, ओषधियों में जीवनरस प्रदान कर, जिस से कि, हमारे पुत्रपौत्रादि दौर्भाग्य में न फंसे रहें। इस प्रकार ऐश्वर्य तथा नाना भांति के अन्न प्रदान करने के कारण अभूति आदिसे होनेवाले दुष्वप्नों के निराकरण में यह उषा सर्वोत्कृष्ट साधन है। इसलिये उषा से प्रार्थना की है कि, वह हमारे दुष्वप्नों को दूर करें।

अब हम क्रमशः मन्त्रोंपर विचार करते हैं.-

दुष्वप्न्यविनाशिनी--उषा।

(२) पाप-विनाश का सामूहिक प्रयत्न।

१ संकल्प-बल- दुष्वप्न्य-विनाश के लिये शक्तिसञ्चय का आदेश।

१६ वें काण्ड के ६ ठे सूक्त के १ प्रथम मन्त्र में मनुष्य को अपने अन्दर संकल्प-बल पैदा करने का आदेश दिया गया है। मन्त्र इस प्रकार है-

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम्।
(अथर्व. १६।६।१)

[अद्य] आज दुष्वप्न्यरूपी शत्रु पर हमने [अजैष्म] विजय प्राप्त कर ली है और [असनाम] जो कुछ प्राप्तव्य था, वह प्राप्त कर लिया है, अथवा शक्तिसञ्चय कर लिया है। और [अद्य] आज [वयं] हम [अनागसः अभूम] निष्पाप हो गये हैं।

मन्त्र का भाव यह हुआ कि मनुष्य प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठकर अपने अन्दर इस प्रकार संकल्पबल पैदा करे।

क. अजैष्म- हम विजयी हो गये हैं, हमें शत्रु पराजित नहीं कर सकता। इस प्रकार विजय की भावना अपने अन्दर भरना।

ख. असनाम- जो कुछ प्राप्तव्य था, वह हमने प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार संकल्पबल को दृढ करना। इस का भाव यह भी हो सकता है कि, ऊपर जो संकल्प की विजय दिखाई, उस को असली विजय में परिणत करने के लिये शक्तिसञ्चय करना।

ग. अनागसः- निष्पाप होना। प्राप्त वस्तुओं को स्थिर रखने के लिये आवश्यक है अथवा विजय की लडाई में निष्पाप होना शत्रु के वार को रोकने के लिये एक ढाल है।

२. दुष्वप्न्य पर प्रथम आक्रमणः-

द्वितीय मन्त्र में उषाके समक्ष दुष्वप्न्यरूपी शत्रुपर प्रथम आक्रमण किया गया है, जो निम्न प्रकार है।

उषो यस्माद्दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु।
(अ. १६।६।२)

(उष.) हे उषा! (यस्मात्) जिस (दुष्वप्न्यात्) दुष्वप्न्य से (अभैष्म) हम डरते हैं (तद् अप उच्छतु) वह दूर हो जाये।

अर्थात् प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर मनुष्य दुष्वप्न्य को इस प्रकार दुत्कारे कि तू दूर हो, तेरा यहां कोई स्थान नहीं- इत्यादि भर्त्सनापूर्वक वाक्यों से मनुष्य दुष्वप्न्य को दूर करने का प्रयत्न करे।

३. दुष्वप्न्य को शत्रु पर फैंकनाः-

अगले दो मन्त्रों में एक ही बात की ओर निर्देश किया गया है। इसलिये दोनोंपर हम इकट्ठा विचार करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है-

द्विषते तत्परा वह शपते तत्परा वह।
(अथर्व. १६।६।३)

यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः।
(म. १६।६।५)

अर्थात् ' हे उषा ! हमसे द्वेष करनेवाले के प्रति अथवा हमें कोसनेवाले के प्रति उस दुस्वप्न को ले जा।

और जिस से हम द्वेष करते हैं और जो हम से द्वेष करता है, उसके प्रति हम इस दुस्वप्न को ले जाते हैं।

प्रथम मन्त्र में तो सामान्य रूप से यह कहा है कि, हे उषा ! शत्रु (द्विषते, शपते) के प्रति उस दुस्वप्न को ले जा। परन्तु प्रश्न पैदा होता है कि, वह शत्रु कौन है, जिस के प्रति दुस्वप्न ले जाना है ? इसके उत्तर में अगले मन्त्र में कहा कि, जिस से हम द्वेष करते हैं, और जो हम से द्वेष करता है, वह हमारा शत्रु है।

जो हम से द्वेष करते हैं और जिन से हम द्वेष करते हैं- ऐसे हमारे शत्रु दो प्रकार के हो सकते हैं। एक तो हमारे अपने पाप, दूसरे मनुष्य। परन्तु यहां एक विचारणीय बात यह है कि, वैदिक आदर्श की दृष्टि से क्या कोई मनुष्य हमारा ऐसा शत्रु हो सकता है, जिस के प्रति हम यह कामना करें कि, वह दुस्वप्नों का शिकार बन जाये। किसी मनुष्य में दुस्वप्न पैदा करना उसे पापी बनाना है। क्या वेद ऐसी आज्ञा देता है? और यदि हम सूक्ष्मता से सोचें तो ' **यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि** ' अर्थात् जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है- यह अवस्था पाप आदि बुराइयों में ही घट सकती है, व्यक्तियों में नहीं। क्योंकि पाप और मनुष्य में तो स्वभावतः शाश्वतिक वैर है। कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य है, जिस से हम तो द्वेष करते हैं, और इतना अधिक द्वेष करते हैं, कि मानों हमारा सब से बड़ा शत्रु वही है; परन्तु वह मनुष्य हम से द्वेष नहीं करता। तो ऐसी अवस्थामें '**यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि** ' यह मन्त्र तो हमें आज्ञा नहीं देता कि, हम उस पर दुस्वप्न फैंकें। और फिर संभव है कि, वह सन्त पुरुष हो, और वह हमारे पापोंसे द्वेष करता हो, हम यह समझ कर कि, वह हम से द्वेष करता है, उस से द्वेष करने लगें और फिर अपना दुस्वप्न उस पर फैंकना चाहें तो क्या वेद हमें उस सन्त पर दुस्वप्न फैंकने की आज्ञा देगा?

सन्त पुरुष सदा किसी मनुष्य की पाप व हीन प्रवृत्तियों से तो द्वेष करता है, उस के व्यक्तित्व से नहीं। इसलिये यह मन्त्र ऐसी अवस्था में भी एक दूसरे के ऊपर दुस्वप्न फैंकने की आज्ञा नहीं देता। कल्पना कीजिये दो दुष्ट आदमी हैं, आपस में एक दूसरे के बड़े भारी शत्रु हैं और दोनों ही दुस्वप्नों के शिकार हैं।

यदि वे एक दूसरे को दुस्वप्न का शिकार बनाना चाहें, तो क्या वेद की ऋचाएँ ऐसे दुष्ट मनुष्यों की मनोकामनाओं को पूर्ण करनेवाली हैं ? कभी नहीं। क्योंकि वेदने तो पहले ही मन्त्र में कहा कि- " **अभूमानागसो वयम्** " अर्थात् हम निष्पाप हैं। दुष्ट पुरुषों के लिये ये ऋचाएँ नहीं हैं, वे तो दोनों ही विनष्ट होने चाहियें। और फिर प्रजा में बहुतायत साधारण नागरिकों की होती हैं, और वे आर्य होते हुए भी इतने ऊँचे नहीं होते कि, किसी से उन का द्वेष न हो, यदि वे परस्पर एक दूसरे के प्रति यही कामना करने लगें, तो राष्ट्र में विक्षोभ, विप्लव व अशान्ति ही मची रहे।

यदि इस मन्त्रपर और सूक्ष्मता से विचार करें तो हमें यह पता चलेगा कि, यहां व्यक्ति और समाज का झगड़ा है। जैसा कि मन्त्र के ' यः = अस्मान् यं = वयम् ' एक वचन और बहुवचन इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि एक तो समाज है, जो कि प्रथम मन्त्र के आधार पर निष्पापियों का समाज है। दूसरी तरफ व्यक्ति है, जो कि समाज से द्वेष करता है। दुस्वप्नों पर विजय चाहनेवाले निष्पापियों के समाज से द्वेष करने का मतलब यह है कि, वह व्यक्ति स्वयं पापी है, और उन्नति नहीं करना चाहता। ऐसे पापी मनुष्य के प्रति दुस्वप्न भेजना किसी हद तक युक्तिसङ्गत हो सकता है। परन्तु जैसा कि मैंने सब सूक्तों का संक्षिप्त भाव दिखाते हुए एक विचार रक्खा है कि समाज के विरोधी पापी व्यक्ति में दुस्वप्न भेजना उसके सुधार का प्रथम सोपान है- तो ऐसी अवस्थामें व्यक्तिमें दुस्वप्न भेजना युक्तिसङ्गत हो सकता है। वास्तव में मुख्य रूप से इन मन्त्रों में दुस्वप्न्यादि मानसिक शत्रुओंका ही वर्णन है। ये हमेशा मनुष्य को पतित करते हैं। इसलिये इनके विनाशके लिये मनुष्यको सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। मन्त्र में जो यह कहा कि हे उषा! शत्रु के प्रति वह दुस्वप्न भेज दे। इसका भाव यह है कि जिन दोषों के कारण यह दुस्वप्न हमें आ लगा है, वह हमसे हटकर

उसके ही पास जा पहुंचे। यह इस तरह हो सकता है कि, प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर संकल्प बल को दृढ बनाना और दुःस्वप्न्य को पैदा करनेवाली बुराईयों पर प्रहार करना- दुःस्वप्न्यविनाश के लिये यह एक सर्वश्रेष्ठ प्रयत्न है।

परन्तु मैंने सब सूक्तों का संक्षिप्त भाव दिखाते हुए एक विचार रक्खा है कि- पापी तथा समाज की उन्नति के विरोधी के दुःस्वप्न्य भेजना सुधार की प्रथम सोपान है- तब ऐसी अवस्था में व्यक्ति में दुःस्वप्न्य आदि भेजना युक्तिसंगत हो सकता है। आशा है विद्वान् लोग अभी इसपर विचार करेंगे।

उषा और वाक् का सम्मीलन।

आगे उषा और वाग् दोनों मिलकर दुःस्वप्न्य का विनाश करते हैं- यह निम्न मन्त्रों में दर्शाया गया है। मन्त्र इस प्रकार है।

उषा देवी वाचा संविदाना वाग्देव्युषसा संविदाना। (अथर्व. १६।६।५)
उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पति-रुषस्पतिना संविदानः। (अ. १६।६।६)
तेऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः। (अ. १६।६।७)
कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान्। (अ. १६।६।८)
जाग्रद्दुःष्वप्न्यं स्वप्नेदुःष्वप्न्यम्। (अ. १६।६।९)

अर्थात् दिव्य गुणयुक्त उषा वाग्देवी से मिली हुई हो और वाग्देवी उषा से मिली हुई हो। उषा का पति सूर्य वाचस्पति से मिला हुआ हो और वाचस्पति उषा के पति से मिला हुआ हो। वे सब उषा, वाक्, उषस्पति और वाचस्पति आदि इस मनुष्य में से ऐश्वर्य आदि के अभाव से होनेवाले कष्टों, बुरे नामवाले अथवा अर्श आदि रोगों और सदा चिल्लानेवाली पीडाओं, कुम्भीकाओं, दूषीकाओं तथा अन्य हिंसा करनेवाली व्याधियों को दूर करें। अब क्रमशः हम मन्त्रों के अर्थों को स्पष्ट करते हैं।

५ वें मन्त्र में कहा गया है कि, दिव्यगुणयुक्त उषा वाग्देवी से मिली हुई हो। हम पहले देख ही चुके हैं कि, उषा के अन्दर बडे दिव्य गुण हैं, क्योंकि वह उषा सब से प्रथम ज्ञान व प्रकाश का सन्देश लाती है। अपने साथ ही वनस्पति, ओषधी जीवजन्तु सभी प्रकार के प्राणियों के लिये वह जीवनदायिनी प्राणसंचारिणी शक्ति को साथ लाती है। और साथ ही सब के मनों को पवित्र करती चली जाती है। वेद कहता है कि, ऐसी दिव्यगुण-युक्त उषा से हम तभी पूर्णतया लाभ उठा सकते हैं, तथा दुःस्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर कर सकते हैं जब कि, उषा के साथ वाक् अर्थात् ज्ञान का सम्बन्ध हो।

इस उषाकाल में वाग्देवी अर्थात् परस्पर दिव्य वाणी बोलें, गन्दे तथा अशुद्ध विचारों से परिपूर्ण कुवचनों को न बोलें। उषाकाल में हमें निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये।

१. जब उषाकाल की वेला पवित्र विचार तथा दिव्य वाणी से युक्त होगी, तो उस का दिन के अवशिष्ट जीवन पर अवश्य ही प्रभाव पडेगा। हमारे विचार शुद्ध होंगे, हम छल, कपट तथा असत्य व्यवहार आदि करनेसे संकोच करेंगे। ऐसी अवस्था में दुःस्वप्न्यादि दुर्गुणों का होना असंभव है।

२. दूसरे प्रभातवेला को हम यदि वाग्देवी अर्थात् दिव्यज्ञान के उपार्जन में लगावें, तो ज्ञानोपार्जन अच्छा होगा, हमारी स्मृति शक्ति बढेगी, और पवित्र विचार होने के कारण ज्ञान भी श्रेष्ठ होगा। उस अवस्थामें हम कर्तव्या-कर्तव्य का निर्णय बहुत ही अच्छी तरह से कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में भी दुःस्वप्न्य आदि दुर्गुणों को हम सुगम-तया दूर कर सकते हैं।

३. तीसरे इस उषाकाल में अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें वाग्देवी अर्थात् सृष्टि, स्थिति प्रलयकर्ता, सर्वनियंता परमात्माके प्रति दिव्य वाणी, दिव्य स्तोत्र से उस की स्तुति करें। वह अग्निपुञ्ज तथा तेजःस्वरूप परमात्मा हमें श्रेष्ठ मार्गपर ले जावेगा और हमारे दुःस्वप्न्यादि सब प्रकार के दुर्गुणों को भस्मीभूत कर देगा।

४. जीवनप्रवाह में जो उषाकाल आता है, उसका सम्बन्ध दिव्य वाणी, दिव्य ज्ञान के उपार्जनके साथ होना चाहिये। अर्थात् राष्ट्रमें राजाका यह कर्तव्य है कि, उषाकाल में वर्तमान जितने भी राष्ट्रके बच्चे हैं, वे सब ज्ञानोपार्जन करें। और वह ज्ञान दिव्य ज्ञान होना चाहिये। जब बच-पन से ही मनुष्य को श्रेष्ठ मार्ग पर ले जाया जायेगा तथा दिव्य ज्ञान दिया जायेगा, तो दुःस्वप्न्यादि दुर्गुणों का न होना स्वाभाविक है। (क्रमशः)

ऋष्टिमद्भिः रथेभिः आयात।
(ऋ. १।८८।१) (१५१)
सुविता घृताची हिरण्यनिर्णिक्
ऋष्टिः येषु सं मिम्यक्ष। (ऋ. १।१६७।३) (१७४)
ऋष्टिविद्युतः मरुतः। (ऋ. १।१६८।५) (१८७)
ये ऋष्टिविद्युतः नमस्य। (ऋ. ५।५२।१३) (२२९)
पृथा आ ऋष्टीः असृक्षत। (ऋ. ५।५२।६) (२२२)
वः अंसेषु ऋष्टयः, गभस्त्योः अग्निभ्राजसः विद्युतः।
(ऋ. ५।५४।११) (२६०)

'ये वीर अपने भाले लेकर प्रकट होते हैं। इनकी भुजाओंपर तथा कंधोंपर भाले द्योतमान हो उठे हैं। तेज:पुञ्ज हथियारों से युक्त होकर ये वीर अपने महत्त्व को बढाते हैं। चमकनेवाले हथियार लेकर ये वीर रथपरसे आते हैं। इन के हथियार बढिया, सुदृढ, सुतीक्ष्ण, सोने के तुल्य चमकनेवाले होते हैं। चमकीले भालों से युक्त ये वीर स्थिर शत्रुको भी विकम्पित कर देते हैं। कंधोंपर भाले रखे हुए हैं और इनके हाथों में तलवार रहती है।'

ऋष्टि का अर्थ है भाला, कुल्हाडी, परशु या तत्सम मुष्टि में पकडनेयोग्य हथियार। जब सैनिक भाले लेकर खडे होते हैं तब कंधों पर अपने भालों को रख लेते हैं। उस समय का वर्णन इन मंत्रों में है।

कुठार या परशु।

ये वाशीभिः अजायन्त। (ऋ. १।३७।२) (७)
हिरण्यवाशीभिः अग्निं स्तुषे। (ऋ. ८।७।३२) (७७)
ते वाशीमन्तः। (ऋ. १।८७।५) (१५०)
वः तनूषु अधि वाशीः। (ऋ. १।८८।३) (१५३)
ये वाशीषु धन्वसु श्रायाः। (ऋ. ५।५३।४) (२३७)

'वाशी का अर्थ है कुल्हाडी या परशु। यह मरुतों का एक शस्त्र है। परशुसहित ये वीर प्रकट होते हैं। इन कुल्हाडियोंपर सुनहली पच्चीकारी की जाती थी। ये वीर हमेशा अपने पास कुठार रख लेते हैं। समीप तीक्ष्ण कुठार एवं बढिया धनुष्य रखते हैं।

इन वर्णनों से पाठकों को इन के कुठारों की कल्पना आजायगी। इनके हथियारों में भाले, कुठार एवं धनुष्यों का अन्तर्भाव हुआ करता था। साथ ही तलवार भी रहा करती थी।

तलवार, वज्र।

वज्रहस्तैः अग्निं स्तुषे। (ऋ. ८।७।३२) (७७)
विद्युद्धस्ताः। (ऋ. ८।७।२५) (७०)
हस्तेषु कृतिः च सं दधे। (ऋ. १।१६८।३) (१८५)
स्वधितिवान्। (ऋ. १।८८।२) (१५२)

'ये वीर हाथ में तलवार या वज्र धारण करनेवाले हैं। बिजली के तुल्य हथियार इन के हाथ में पाया जाता है। तेज धारवाली, तुरन्त काट देनेवाली तलवार ये वीर धारण करते हैं।'

'कृति' का अर्थ है तीक्ष्ण धारवाली तलवार। वज्र भी एक हथियार है जो पहिये के आकारवाला होता हुआ तेज दन्दानेदार बनता है। पर कई स्थानोंपर अत्यन्त सुतीक्ष्ण तलवार को भी वज्र कहा है।

हथियार।

ऋभुक्षणः! हवं वनत। (ऋ. ८।७।९) (५४)
ऋभुक्षणः! प्रचेतसः स्थ। (ऋ. ८।७।१२) (५७)
ऋभुक्षणः! सुदीतिभिः वीळुपविभिः आगत।
(ऋ. ८।२०।२) (८३)
गभस्त्योः इषुं दधिरे। (ऋ. १।६४।१०) (११७)
हिरण्यचक्रान् अयोदंष्ट्रान् पश्यन्।
(ऋ. १।८८।५) (१५५)
वः क्रिविर्दती दिद्युत् रदति।
(ऋ. १।१६६।६) (१६३)
वः अंसेषु तविषाणि आहिता।
(ऋ. १।१६६।९) (१६६)
पविषु अधि क्षुराः। (ऋ. १।१६६।१०) (१६७)
वः ऋञ्जती शरुः। (ऋ. १।१७२।२) (१९६)
चक्रिया अवसे आववर्तत्। (ऋ. २।३४।१४) (२१२)
धन्वना अनु यन्ति। (ऋ. ५।५३।६) (२३९)
विद्युता सं दधति। (ऋ. ५।५४।२) (२५१)
वः हस्तेषु कशाः। (ऋ. १।३७।३) (८)

'ये शस्त्रधारी वीर हैं। बढिया, तीक्ष्ण धारावाले शस्त्र लेकर तुम इधर आओ। तुम हाथ में बाण धारण करते हो। तुम्हारे हथियार सुवर्णविभूषित फौलाद की बनी दंष्ट्रातुल्य विभागों से अलंकृत हैं। तुम्हारा दन्दानेदार बिजली की

तरह तेजस्वी शस्त्र शत्रुके टुकडे कर रहा है। तुम्हारे कंधों पर हथियार लटक रहे हैं। तुम्हारे हथियार तीक्ष्ण धाराओं से युक्त हैं। तुम्हारा हथियार वेगपूर्वक शत्रुदल पर जा गिरता है। तुम्हारे पहिये जैसे दिखाई देनेवाले आयुध से तुम जनता की रक्षा करते हो। धनुर्धारी बन कर तुम यात्रा करते हो। तुम्हारा संघ तेजस्वी वज्रों से सुसज्ज होता है। तुम्हारे हाथों में चाबूक है।'

इन मंत्रांशों में मरुतों के अनेक हथियारों का निर्देश देखने मिलता है। दन्दानेदार वज्र और पहिये, बाण, शर, धनुष्य, तलवार, छोटेमोटे लंबी या छोटी मूठवाले हथियारों का उल्लेख है। इस से मरुतों के हथियारों एवं उन के गणवेश की अच्छी कल्पना की जा सकती है।

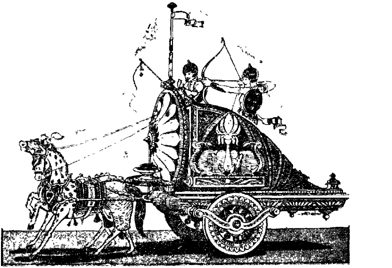
सुदृढ मजबूत हथियार।

वः आयुधा स्थिरा। (ऋ. १।३९।२) (३७)

वः रथेषु स्थिरा धन्वानि आयुधा।

(ऋ. ८।२०।१२) (९३)

'मरुतों के हथियार बडे ही सुदृढ हुआ करते और उन के रथों पर स्थिर याने न हिलनेवाले धनुष्य बहुतसे रखे जाते थे।' यहाँपर चल तथा स्थिर दो प्रकार के धनुष्य हुआ करते ऐसा जान पडता है। ध्वजस्तंभों से बाँधे धनुष्य स्थिर और वीरोंने अपने साथ रखे हुए धनुष्य चल कहे जा सकते हैं। स्थिर धनुष्योंपर दूरतक फेंकनेके लिए बडे बाण एवं धडाके से टूट गिरनेवाले गोलक भी लगाये जाते। चल धनुष्यों से प्रायः सभी परिचित होंगे। ऐसा जान पडता है कि, केवल महारथी या अतिमहारथी ही स्थिर धनुष्यों को काम में ला सकते थे।



मरुतों का घोडे जोता हुआ रथ।

मरुतों का रथ।

मरुतां रथे शुभं शर्धः अभि प्रगायत।

(ऋ. १।३७।१) (६)

'मरुतों का बल रथों में सुहानेवाला है।' वह सचमुच वर्णन करनेयोग्य है। ये वीर रथों में बैठकर अपना बल प्रकट करते हैं।

एषां रथाः स्थिराः सुसंस्कृताः।

(ऋ. १।३८।१२) (३२)

मरुतः वृषणश्वेन वृषप्सुना वृषनाभिना रथेन आगत। (ऋ. ८।२०।१०) (९१)
बन्धुरेषु रथेषु वः आ तस्थौ।
(ऋ. १।६४।९) (११६)

विद्युन्मद्भिः स्वर्कैः ऋष्टिमद्भिः अश्वपर्णैः रथेभिः आ यात। (ऋ. १।८८।१) (१५१)

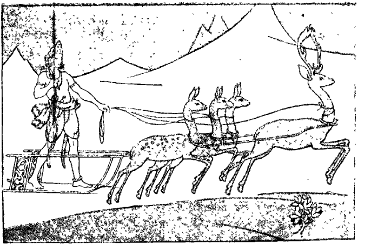
वः रथेषु विश्वानि भद्रा। (ऋ. १।१६६।९) (१६६)
वः अक्षः चक्रा समया वि वावृते। ,, ,, ,,
मरुतः रथेषु अश्वान् आ युंजते।
(ऋ. २।३४।८) (२०६)

रथेषु तस्थुषः एतान् कथा ययुः।
(ऋ. ५।५३।२) (२३५)

युष्माकं रथान् अनु दधे। (ऋ. ५।५३।५) (२३८)
शुभं यातां रथाः अनु अवृत्सत।
(ऋ. ५।५५।१-९) (२६५-२७३)

इन वीरों के रथ बडे ही सुदृढ हुआ करते हैं। इनके रथों के घोडे बलिष्ठ और उनके पहिये मजबूत ढंगके बनाये होते हैं। इनके रथों में बैठने की जगहें कई होती हैं। इनके रथों में तेजस्वी तथा बढिया हथियार रखे जाते हैं और घोडे भी जोते जाते हैं। इनके रथों में सब कुछ अच्छा ही होता है। इनके रथों का धुरा एवं उसके पहिये ठीक समय पर घूमते रहते हैं। ऐसे रथों में बैठनेवाले इन वीरों के समीप भला कौन जा सकता है? हम तुम्हारे रथों के पीछे चले आते हैं। भलाई करने के लिए जानेवाले तुम्हारे रथों को देखकर जनता उनके पश्चात् चलने लगती है।'

इस वर्णन से मरुतों के रथ की कल्पना की जा सकती है। बैठने के लिए मरुतों के रथों में कई स्थान रहते हैं, जिन पर रथारोही वीर बैठ जाते हैं। मरुतों के रथ बडे सुदृढ ढंग से तैयार किए जाते हैं अर्थात् उनका छोटासा हिस्सा भी त्रुटिमय नहीं रहता है चाहे पहिया, धुरा या अन्य कोई कीलपुर्जा हो। युद्धभूमि में भीषण संघर्ष तथा मार काट में वे टिक सकें इस हेतु को ध्यान में रखकर वे अत्यन्त स्थायी स्वरूप के बनाये जाते हैं। इन रथों में घोडे तथा कभी कभी हरिनियाँ भी जोती जाती थीं। देखिए ये उल्लेख–



मरुतों का चक्ररहित और हरिणयुक्त रथ।

हरिणों से खींचे जानेवाले रथ।

मरुतोंके रथ हरिनियाँ एवं बारहसींगोंसे खींचे जाते थे ऐसा वर्णन निम्न मंत्रांशोंमें है। पाठक इनका विचार करें।

ये पृषतीभिः अजायन्त। (ऋ. १।३७।२) (७)
रथेषु पृषतीः अयुग्ध्वं। (ऋ. १।३९।६) (४१)
एषां रथे पृषतीः। (ऋ. १।८५।५) (७१)
रथेषु पृषतीः प्र अयुग्ध्वम्। (ऋ. ८।७।२८) (२१७)
रथेषु पृषतीः आ अयुग्ध्वम्।
(ऋ. १।८५।४) (११६)
पृषतीभिः पृक्षं याथ। (ऋ. २।३४।३) (२०१)
संमिश्लाः पृषतीः अयुक्षत। (ऋ. ३।२६।४) (११४)
रोहितः प्रष्टीः वहति। (ऋ. १।३९।६) (४१)
प्रष्टीः रोहितः वहति। (ऋ. ८।७।२८) (७३)

' रथ में धब्बेवाली हरनियाँ जोती हुई हैं और उनके आगे एक बारह सींगा रखा हुआ है। यह एक इस भाँति हरिणयुक्त मरुतों का रथ है जो पहियों से रहित होता है। देखो—

सुषोमे शर्यणावति आर्जीके पस्त्यावति।
ययुः निचक्रया नरः। (ऋ. ८।७।२९) (७४)

' चक्ररहित रथपर से बढ़िया सोम जहाँपर होता हो, ऐसे स्थानपर शर्यणा नदी के समीप ऋजीक के प्रदेश में मरुत् जाते हैं। '

जिस स्थानपर बढ़िया सोम मिलता है वह समुद्र की सतहसे १६००० फीट ऊँचाईपर रहता है। यहाँ का सोम अत्युत्कृष्ट माना जाता है। चूँकि यहाँ ' सु-सोम ' कहा है इसलिये ऐसे स्थानों का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है जहाँपर घटिया दर्जे का सोम मिलता हो। इतने अत्युच्च भूविभाग में ये मरुत् पहियोंसे रहित रथपर से संचार करते हैं। कोई आश्चर्य की बात नहीं अगर वह स्थान बर्फ से पूर्णतया ढका हो। ऐसे हिमाच्छादित भूभागों में चक्रहीन वाहनों को कृष्णसारमृग या हरिनियाँ खींचती हैं और आज दिन भी यह दृश्य देखा जा सकता है। रूस के उत्तर में जहाँपर खूब बर्फ जमी रहती है इस तरह की गाड़ियाँ, जिन्हें आंग्ल भाषा में (Sledge) ' स्लेज ' कहते हैं, आज भी प्रचलित हैं जिन्हें बारह सींगे या हरिनियाँ खींचती हैं।

इस से प्रतीत होता है कि, मरुत् बर्फीले स्थानों में रहते हों। मरुतों के रथों में घोड़ों तथा घोड़ियों को भी जोतते थे। शायद, बर्फ का अभाव जहाँपर हो ऐसे स्थानों में पहुँचनेपर इस ढंग के रथोंका उपयोग किया जाता हो और हिमाच्छादित, निबिड हिमस्तरों की जहाँ प्रचुरता हो ऐसे प्रदेशों में ऊपर बतलाये हुए हरिणोंद्वारा खींचे जानेवाले रथों का उपयोग होता हो।

अश्वरहित रथ।

इस के सिवा मरुतों के समीप ऐसा भी रथ विद्यमान था जो बिना घोड़ों के चलता था, अतः चाबूक की आवश्यकता नहीं हुआ करती थी। देखिये, वह मन्त्र यूँ है—

अनेनो वो मरुतो यामो अस्त्वनश्वश्चिद् यम-
जत्यरथीः। अनवसो अनभीशू रजस्तूर्वि
रोदसी पथ्या याति साधन्॥
(ऋ. ६।६६।७) (३४०)

' हे वीर मरुतो ! यह तुम्हारा रथ (अन्-एनः) बिलकुल निर्दोष है और (अन्-अश्वः) इस में घोड़े जोते नहीं हैं तिसपर भी वह (अजति) चलता है, संचार करता है तथा उसे (अ-रथीः) रथ में बैठनेवाला वीर न हो तो भी अर्थात् एक साधारण सा मनुष्य भी चला सकता है। (अन्-अवसः) इसे किसी पृष्ठ-रक्षक की आवश्यकता नहीं रहती है, (अन् अभीशुः) यह लगाम, कशा आदि से रहित है, ऐसा यह रथ (रजस्तूः) बड़े वेग से गर्द उड़ाता हुआ (रोदसी पथ्या) आकाश एवं पृथ्वी के मध्य विद्यमान मार्गों से (साधन् याति) अपना अभीष्ट सिद्ध करता हुआ चला जाता है।

यह मरुतों का रथ आधुनिक ' मोटर ' के तुल्य कोई वाहन हो ऐसा दीख पड़ता है जो घोड़े, लगाम तथा पृष्ठरक्षक के अभाव में भी धूल उड़ाता हुआ वेगपूर्वक आगे बढ़ता है। अश्वों के न रहने के साथ लगाम रखने की कोई आवश्यकता नहीं है और खींचनेवाले न रहनेपर भी भीतर रखे हुए यांत्रिक साधनोंसे धूलिमय नभ करता हुआ यह रथ तेज दौड़ता है। धूल उड़ाते जाने का मत-

कथ यही है कि, उस का वेग बडा ही प्रचंड है। क्योंकि तीव्र वेग के न होनेपर धूलि का उडाया जाना संभव नहीं है।

(रजस्तुः) का दूसरा अर्थ योंभी हो सकता है कि अंतरिक्षमें से त्वरापूर्वक जानेवाला। ऐसा अर्थ कर लेने से, (रजस्-तुः रोदसी पथ्या याति) द्युलोक एवं भूलोक के मध्य अन्तरिक्ष की राहसे यह रथ चला जाता है, ऐसा अर्थ हो सकता है। ऐसी दशामें इस रथ को आकाशयान, 'एअरोप्लेन' मानना आवश्यक है। अगर इसे हम कविकल्पना मानें, तो भी विमानों की सूचना स्पष्टतया विद्यमान है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इस मन्त्र में निर्दिष्ट यह रथ भले ही विमान हो, या मोटर हो, पर स्पष्ट तो यही है कि बिना अश्वों की सहायता के यह बडी शीघ्रता से गतिमान हुआ करता है।

कई मंत्रों में 'बाज पंछी की तरह वीर मरुत आते हैं' ऐसा वर्णन किया है। यह निर्देश भी मरुतों के आकाशसंचार को और अधिक स्पष्ट करता है।

अब तक के वर्णन से पाठकों को स्पष्ट विदित हुआ ही होगा कि मरुतों के समीप चार प्रकार के वाहन थे; [१] अश्वसंचालित रथ, [२] हरिणियों तथा कृष्णसार मृग से खींचा हुआ, घनीभूत हिम के स्तरपर से घसीटते जानेवाला रथ, [३] बिना अश्वोंके परन्तु बडे वेगसे चतुर्दिक् धूलि उडाते हुए जानेवाले रथ और [४] आसमानमें उडते जानेवाले वायुयान।

शत्रु पर किया जानेवाला आक्रमण।

मरुत् शत्रुसेना पर हमले करने में बडे ही प्रवीण थे और उनकी इस भाँति चढाई के बारेमें किया हुआ विविध वर्णन देखनेयोग्य है। बानगी के तौर पर देख लीजिए-

वः यामः चित्रः । (ऋ. १।१६६।४; १।१७२।१) (१६१;१९५)

वः चित्रं याम चेकिते। (ऋ. २।३४।१०) (२०८)

' तुम्हारा हमला बडा ही अचम्भे में डालनेवाला होता है। ' जिससे जनता आश्चर्यचकित हो दाँतोंतले ऊँगली दबाये बैठी रहे, ऐसे आक्रमण का सूत्रपात ये वीर मरुत् करते हैं। इसी प्रकार-

वः उग्राय यामाय मन्यवे मानुषः नि दध्रे।
(ऋ. १।३७।७) (१२)

येषां यामेषु पृथिवी भिया रेजते।
(ऋ. १।३७।८) (१३)

वः यामेषु भूमिः रेजते। (ऋ. ८।२०।५) (८६)

वः यामाय गिरिः नि येमे। (ऋ. ८।७।५) (५०)

वः यामाय मानुषा अबीभयन्त।
(ऋ. १।३९।६) (४२)

' तुम्हारी चढाई के मौकेपर मानव कहीं न कहीं किसी के सहारे रहने लगते हैं। तुम्हारे हमले से पृथ्वीतक काँपने लगती है। तुम्हारे आक्रमण से पहाडतक चुपचाप हो जाते हैं ताकि वे न गिर पडें। तुम जब धावा पुकारते हो तब मानव भयभीत हो उठते हैं। '

इन वीरों का ऐसा प्रबल आक्रमण हुआ करता है। इस विद्युदाक्रमण के सम्मुख बलिष्ठ शत्रु भी तूफान में तिनके के समान कहीं के कहीं उड जाते हैं और अ-पदस्थ हो जाते हैं। देखिए न-

दीर्घं पृथुं यामभिः प्रच्यावयन्ति।
(ऋ. १।३७।११) (१६)

यत् यामं अचिध्वं पर्वताः नि अहासत।
(ऋ. ८।७।२) (४७)

यत् यामं अचिध्वं इन्दुभिः मन्दध्वे।
(ऋ. ८।७।१४) (५९)

' तुम्हारी चढाइयों के फलस्वरूप बडे तथा सुदृढ शत्रु को भी तुम पदभ्रष्ट करते हो और पहाड भी विकम्पित हो उठते हैं। जब तुम आक्रमणार्थ बाहर निकल पडते हो तो पहले सोमपान करके हर्षित होते हो और पश्चात् शत्रु पर टूट पडते हो। '

इससे विदित होता है कि एक बार यदि मरुतों का आक्रमण हो जाए तो शत्रु का संपूर्ण विनाश होना ही चाहिए, दुश्मन पूरी तरह मटियामेट होगा इतना प्रभावशाली वह होता है।

मरुत् मानव ही थे।

पहले मरुत् मर्त्य, मानवकोटि के थे, परन्तु उन्हों ने अपनी शूरता से भाँति भाँति के कर्म कर दिखलाये, अतः

वे अमरपन को पाने में सफल हो गये। देखिए—

यूयं मर्तासः स्यातन; वः स्तोता अमृतः स्यात्। (ऋ. १।३८।४) (२४)

रुद्रस्य मर्याः दिवः जज्ञिरे। (ऋ. १।६४।२)(१०९)

'तुम मर्त्य हो लेकिन तुम्हारा स्तोता अमर होता है। तुम रुद्र के याने वीरभद्र के मानव हो, मरणधर्मा हो, पर तुम कार्य इस तरह करते कि मानों तुम्हारा जन्म स्वर्गसे-द्युलोक में हुआ हो।' उसी प्रकार—

मरुतः सगणाः मानुषासः। (अथर्व. ७।७७।६) (४४७)

मरुतः विश्वकृष्टयः। (ऋ. ३।२६।५) (३१५)

सभी गणों के साथ समवेत ये मरुत् मानव ही हैं और सभी कृषिकर्म करनेवाले काश्तकार हैं। ये गृहस्थाश्रमी भी हैं। देखिए—

गृहमेधास आ गत मरुतः। (ऋ. ७।५९।१०) (३९२)

'ये मरुत् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाले हैं, वे हमारी ओर आ जायँ।' निस्सन्देह, ये विवाहित हैं अतएव इन्हें पत्नीयुक्त कहा गया है।

युवानः निमिश्लां पत्नीं युवतीं शुभे अस्थापयन्त। (ऋ १।१६७।६) (१७७)

स्थिरा चित् वृषमनाः अहंयुः सुभागाः जनीः वहते। (ऋ. १।१६७।७) (१७८)

तुम युवक वीर नित्य सहवास में रहनेवाली, पत्नीपद पर आरूढ युवती को शुभयज्ञकर्म में साथ ले चलते हो और उसे अच्छे कर्म में लगाते हो। तुम्हारी पत्नी अच्छी भाग्यशालिनी है और वह अच्छी सन्तान से युक्त है।'

इससे स्पष्ट है कि ये विवाहित हैं।

मरुतों की विद्याविलासिता।

वीर मरुत् ज्ञानी और कवि थे ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है। देखिए-

ज्ञानी।

प्रचेतसः मरुतः नः आ गन्त। (ऋ. १।३९।९) (४४)

प्रचेतसः नानदति। (ऋ. १।६४।८) (११५)

ते ऋष्वासः दिवः जज्ञिरे। (ऋ. १।६४।२) (१०९)

'वीर मरुतो! तुम विद्वान् हो, तुम हमारे निकट चले आओ, तुम उच्चकोटि के ज्ञानी हो।' विद्वान् होने के कारण ये मरुत् दूरदर्शी भी हैं।

दूरदर्शी।

दूरे दृशः परिस्तुभः। (ऋ. १।१६६।११) (१६८)

'ये वीर दूरदर्शिता से संपन्न होने के कारण पूर्णतया सराहनीय हैं।' विद्वत्ता तथा दूरदर्शिता से अलंकृत होने के कारण ये अच्छी प्रभावशाली वक्तृता देने की क्षमता रखनेवाले हैं।

धुवाँधार वक्तृता देनेवाले।

सुजिह्वाः आसभिः स्वरितारः। (ऋ. १।१६६।११) (१६८)

'उन वीर मरुतों की वाणी बडी अच्छी है अतः उनके मुँहसे मधुर एवं धुरंधर वक्तृता धाराप्रवाहरूप से निकलती है। इन मरुतों में कवित्वशक्ति पाई जाती है।

कवि।

ये ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः। (ऋ. ५।५२।१३) (२२९)

नरो मरुतः सत्यश्रुतः कवयो युवानः। (ऋ. ५।५७।८) (२९१)

मरुतः कवयो युवानः। (ऋ. ५।५८।३) (२९४)

(ऋ. ५।५८।८) (२९९)

स्वतवसः कवयः...मरुतः। (ऋ. ७।५।११) (३९३)

कवयो य इन्वथ। (अथर्व. ४।२७।३) (४४२)

ऋतज्ञाः (२०१) वेधसः (२५५) विचेतसः (२६२)

'ये मरुत् ज्ञानी, कवि एवं अपनी सत्यनिष्ठाके लिये विख्यात हैं। ये युवक तथा बलिष्ठ हैं। बुद्धिमत्ता भी इन में कूटकूटकर भरी होती है, उदाहरणार्थ-

बुद्धिमानी।

यूयं सचेतुना सुमतिं पिपर्तन। (ऋ. १।१६६।६) (१६३)

धियं धियं वो देवयाः दधिध्वे। (ऋ. १।१६८।१) (१८३)

वः सुमतिः ओ सु जिगातु ।
(ऋ. २।३४।१५) (२११)
सूरयः मे प्रचोचन्त । (ऋ. ५।५२।१६) (२३२)

' ये अपनी अच्छी बुद्धिमत्ता के कारण जनता में सुबुद्धिका प्रचार एवं वृद्धि करते हैं, इन में हरएक में दिव्य-भावयुक्त बुद्धि निवास करती है। ये अच्छे विद्वान्, उच्च-कोटिके वक्ता और सुबुद्धि देनेवाले भी हैं।' बुद्धिमानीके साथ इन में साहसिकता भी पर्याप्त मात्रामें विद्यमान है।

साहसीपन ।

धृष्णुया पान्ति । (ऋ. ५।५२।२) (२१८)

' ये अपने धैर्ययुक्त धर्षणसामर्थ्य से सब का संरक्षण करते हैं।' ये बडे सामर्थ्यवान् हैं-

सामर्थ्यवत्ता ।

शाकिनः मे शतां ददुः। (ऋ. ५।५२।१७) (२३३)

' इन सामर्थ्यशाली वीरोंने मुझे सौ गायों का दान दिया।' इस प्रकार इन की शक्तिमत्ता का वर्णन है। ये बडे उत्साही वीर हैं।

उत्साह तथा उमंग से लबालब भरे।

समन्यवः ! मा पस्थात । (ऋ. ८।२०।११) (८९)
समन्यवः मरुतः ! गावः मिथः रिहते ।
(ऋ. ८।२०।२१) (१०२)
समन्यवः ! पृक्षं याथ । (ऋ. २।३४।३) (२०१)
समन्यवः ! मरुतः नः सवनानि आगन्तन ।
(ऋ. २।३४।६) (२०४)

' (स-मन्यवः) हे उत्साही वीरो ! तुम हम से दूर न रहो। तुम्हारी गौएँ प्यारसे एक दूसरेको चाट रही हैं। तुम अन्न का संग्रह करने जाओ। ' स-मन्यवः ' का मतलब है उत्साही, क्रोधपूर्ण, जोशीला याने जो दूसरों के किए अपमान को बरदाश्त नहीं कर सकते ऐसे वीर। इन वीरोंमें उग्रता भरी पडी है।

उग्र वीर ।

उग्रासः तनूषु नकिः येतिरे ।
(ऋ. ८।२०।१२) (९३)
उग्राः मरुतः ! तं रक्षत ।
(ऋ. १।१६६।८) (१६५)

' ये उग्रस्वरूपवाले वीर अपने शरीरों की कुछ भी पर्वाह नहीं करते। हे उग्र प्रकृति के वीरो ! तुम उस की रक्षा करो। ये वीर बडे उद्योगी भी हैं।

उद्यम में निरत ।

शिमीवतां शुष्मं विद्म हि। (ऋ. ८।२०।३) (८४)

' इन उद्योग में लगे वीरों का बल हमें विदित है।' परिश्रमी जीवन बिताने के कारण इन का बल बडा-चढा होता है। निरलस उद्यम करने से जो बल बढता है वह मरुतों में पाया जाता है। ये बडे कुशल भी हैं।

कुशल वीर ।

ये वेधसः नमस्य । (ऋ. ५।५२।१४) (२२९)
वेधसः ! वः शर्धः अभ्राजि (ऋ. ५।५४।६) (२५५)
सुमायाः मरुतः नः आ यांतु ।
(ऋ. १।१६७।२) (१७३)
मायिनः तविषीः अयुग्ध्वम् ।
(ऋ. १।६४।७) (११४)

' ये वीर ज्ञानी हैं, इसलिये इन्हें प्रणाम करो। हे ज्ञानी वीरो ! तुम्हारा संघ बहुत सुहाता है। ये अच्छे कुशल मरुत् हमारी ओर आजायँ। ये कारीगर अपनी शक्तियों से युक्त हैं।' इस प्रकार उनकी कुशलताका वर्णन किया हुआ है। ये बडे कथाप्रिय भी हैं अर्थात् कहानियाँ सुनना इन्हें बहुत भाता है।

कथाप्रिय ।

[हे] कधप्रियः ! वः सखित्वे कः ओहते ।
(ऋ. ८।७।३१) (७६)

' हे प्यार से कहानी सुननेवाले वीरो ! कौनसा मित्र भला तुम्हें प्रिय है।' कथाप्रिय पद का आशय है भाँति भाँति की वीरों की कथाएं या वीरगाथाएं सुन लेना जिन्हें अच्छा लगता हो। इस कथाप्रियता में ही इन की शूरता का आदिस्रोत रखा हुआ है। बीमारों के उपचार करने में भी ये प्रवीण हैं।

रोगियों की सेवा करने में प्रवीणता ।

मारुतस्य भेषजस्य आ वहत ।

(ऋ. ८।२०।२३) (१०४)

यत् सिन्धौ भेषजं, यत् असिक्न्यां, यत् समुद्रेषु यत्पर्वतेषु विश्वं पश्यन्तो बिभृथा तनूष्वा । नः आतुरस्य रपः क्ष्मा विन्हुतं पुनः इष्कर्त ।

(ऋ. ८।२०।२६) (१०७)

' पवनमें जो औषधिगुण है उसे यहाँ ले आओ । सिन्धु, समुद्र, पर्वत, असिक्नी नामक स्थलों में जो कुछ दवाई मिल जाए उसे तुम देख लो तथा प्राप्त करो । वह समूचा निरख कर अपने समीप संग्रह कर रखो । हममें जो बीमार पड़ा हो उस के देह में जो त्रुटि हो उसे इन औषधों से दूर करो और कुछ टूटाफूटा हो तो उसकी मरम्मत कर दो ।

खिलाडी ।

इन वीरों में खिलाडीपन की कुछ भी न्यूनता नहीं है । इस संबंध में कुछ प्रमाण देखिए—

क्रीळं मारुतं शर्धं अभि प्रगायत ।

(ऋ. १।३७।१) (६)

यत् शर्धं क्रीळं प्र शंस । (ऋ. १।३७।५) (१०)

ते क्रीळयः स्वयं महित्वं पनयन्त ।

(ऋ. १।८७।३) (१४७)

क्रीळा विदथेषु उपक्रीळन्ति ।

(ऋ. १।१६६।२) (१५९)

' क्रीडा में व्यक्त होनेवाला मरुतों का सामर्थ्य सचमुच वर्णनीय है । वे क्रीडासक्त मनोवृत्तिवाले हैं इससे उनकी महनीयता प्रकट होती है । युद्ध में भी ये इस तरह जूझते हैं कि मानों ये खेल ही रहे हों । वीर हमेशा खिलाडी बने रहते हैं । इनके खिलाडीपनमें भी वीरता एवं शौर्यका ही आविर्भाव हुआ करता है । '

नृत्यप्रियता ।

नृतवः मरुतः ! मर्तः वः भ्रातृत्वं आ अयति ।

(ऋ. ८।२०।२२) (१०३)

' मरुत् नृत्य में बडे कुशल हैं । मानव तक इनसे इसी कारण मित्रता प्रस्थापित करना चाहते हैं । ' साधारण मनुष्य भी ऐसे उच्च कोटि के वीरों के संपर्क में सिर्फ उनकी नृत्यचातुरी के कारण आना चाहता है । इससे ज्ञात होता है कि इनकी कुशलता में आकर्षणशक्ति कितनी बडी होगी ।

गानेबजाने में प्रावीण्य ।

ऐसा दीख पडता है कि ये वीर बाजा बजाने में भी कुशल थे, देखिए—

हिरण्यये रथे कोशे वाणः अज्यते ।

(ऋ. ८।२०।८) (८९)

वाणं धमन्तः रण्यानि चक्रिरे ।

(ऋ. १।८५-१०) (१३२)

' सोने से मढे हुए रथ में बैठकर ये वाण नामक बाजा बजाने लगते हैं और चेतोहारी गायन का प्रारंभ करते हैं । इस भाँति वीर मरुत् गायनवादन-पटुता के कारण बडाही खुशहाल जीवन बिताते हैं और दुःख या उदासीनता इनके पास फटकने नहीं पाती ।

ऊपर वीर मरुतोंमें विद्यमान सद्गुणोंका दिग्दर्शन किया जा चुका है । आशा है कि पाठकवृन्द के सम्मुख मरुतोंका व्यक्तिमत्व स्पष्टतया व्यक्त हुआ होगा । पाठकों से प्रार्थना है कि वे स्वयं भी इस संबंध में अधिक सोच लें ।

प्रबल शत्रु को जडमूल से उखाड फेंक देनेवाले वीर ।

ये वीर मरुत् इतने प्रभावशाली हैं कि स्थिरीभूत शत्रु को भी अपनी जगह परसे समूल उखाड देते हैं । देखिए—

(हे) नरः ! यत् स्थिरं पराहत ।

(ऋ. १।३९।३) (३८)

गुरु वर्तयथा । (ऋ. १।३९।३) (३८)

स्थिरा चित् नमयिष्णवः । (ऋ. ८।२०।१) (८२)

यत् एजथ, द्वीपानि वि पापतन् ।

(ऋ. ८।२०।४) (८५)

अच्युता चित् ओजसा प्रच्यवयन्तः ।

(ऋ. १।८५।४) (१२६)

एषां अज्मेषु भूमिः रेजते । (ऋ. १।८७।३) (१४७)

' हे नेता वीरो ! तुम स्थिर दुश्मन को भी दूर हटाते

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध